

कल्याण मंदिर अंतस्तल का स्पर्श



जैन विश्व भारती प्रकाशन

कल्याण मंदिर अंतस्तल का स्पर्श

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक

शासनगौरव
मुनि धनंजयकुमार

मुख्यनियोजिका
साध्वी विश्रुतविभा

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

पो. : लाडनूं (राज.) 341306

जिला : नागौर (राजस्थान)

फोन : 01581-226080/224671

फैक्स : 01581-227280

e-mail : jainvishvabharati@yahoo.com

ISBN 978-81-7195-228-1

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : नवम्बर, २०१२

द्वितीय संस्करण : अगस्त, २०१३

तृतीय संस्करण : सितम्बर, २०१४

मूल्य : एक सौ तीस रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर

शिवबाड़ी रोड, बीकानेर ३३४००३

KALYAN MANDIR : ANTASTAL KA SPARSH

by Acharya Mahapragya

₹ 130

संपादकीय

‘शक्ति’ केवल ढाई अक्षर का शब्द। किन्तु इस शब्द की जो मूल्यवत्ता और महत्ता है, उसे हजारों शब्द अभिव्यक्ति नहीं दे सकते।

प्रत्येक व्यक्ति शक्तिसंपन्न होना चाहता है। वह कमजोर और दुर्बल होना अथवा कहलाना पसंद नहीं करता।

‘शक्तिमान बनूँ’—यह एक स्वाभाविक आकांक्षा है।

जहां शक्ति है, वहां सफलता है, विजय है, प्रगति है।

जहां शक्ति-शून्यता की स्थिति है, वहां विफलता है, पराजय है, प्रतिगति है।

सफलता, विजय और विकास का आधार है शक्ति।

शक्ति-शून्य जीवन वह बुझा हुआ अंगारा है, जिसमें ज्योति के स्फुलिंगों का साक्षात्कार नहीं होता।

शक्तिसंपन्न जीवन वह प्रज्वल अंगारा है, जिसमें ज्योति के स्फुलिंग उछलते रहते हैं।

केवल ढाई अक्षर का दूसरा शब्द है प्रेम। क्या इस शब्द के मूल्य और महत्ता का शब्दांकन भी संभव है?

प्रेम की महिमा का बखान इन शब्दों में किया गया—

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

प्रत्येक व्यक्ति प्रेम से परिपूर्ण जीवन की आकांक्षा करता है। वह अप्रिय प्रसंगों और संयोगों से बचना चाहता है।

जहां प्रेम है, वहां सफलता है, विजय है, प्रगति है।

जहां प्रेम नहीं है, वहां विफलता है, पराजय है, प्रतिगति है।
प्रेम-शून्य जीवन वह टिमटिमाता हुआ दीप है, जो स्नेह के घृत से अभिषिक्त नहीं है।

प्रेम से भावित जीवन वह प्रज्वल दीप है, जो निरन्तर स्नेह-दान से अभिषिक्त और आप्लावित है।

सवाल यह है—शक्ति का प्रयोग किस दिशा में हो रहा है? प्रेम का प्रवाह किस दिशा में जा रहा है?

शक्ति का नियोजन किसमें है? प्रेम का नियोजन किसमें है?

शक्ति का प्रयोजन क्या है? प्रेम का प्रयोजन क्या है?

शक्ति किसके पोषण में लगी हुई है? प्रेम से किसका पोषण हो रहा है?

इनसे आसक्ति की अमरबेल को सिञ्चन मिल रहा है या अनासक्ति का शतदल कमल खिल रहा है?

आसक्ति की अमरबेल के सिञ्चन का अर्थ है—चेतना का अधःपतन।

अनासक्ति के शतदल कमल के विकस्वर होने का अर्थ है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण।

आत्मा परमात्मा होना चाहता है। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए आवश्यक है 'परम' में लीन होना।

भक्त स्वयं भगवान बनना चाहता है। भगवान बनने के लिए जरूरी है अहंत् के साथ तादात्म्य, अहंकार और ममकार का विलय।

जब 'तुम' था तब 'मैं' नहीं, जब 'मैं' था तुम नाहि।

प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहि॥

व्यक्ति आनंद और शांति का जीवन जीना चाहता है, वह दुःख और विघ्न-बाधाओं से मुक्त रहना चाहता है। जहां अहंकार और ममकार प्रबल है, वहां दुःख अवश्यंभावी है, विघ्न-बाधाओं का अवकाश बना हुआ है। आनंद और शांति का एक मंत्र है—भक्ति, अपने स्वरूप का संधान।

जहां शक्ति का नियोजन परम के साथ तादात्म्य में होता है, अहंकार-ममकार के विलय में होता है, अपने स्वरूप के संधान में होता है, वहां चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है।

जहां शक्ति का नियोजन अपरम के साथ तादात्म्य में होता है, अहंकार-ममकार के संपोषण में होता है, दूसरों के छिद्रान्वेषण और अवरोहण में होता है, वहां चेतना मलिन बनती है, राग-द्वेष की वृत्ति प्रबल बनती है, युग की समस्याएं जटिल बनती हैं।

जहां प्रेम परमात्मा के प्रति होता है, विराट् सत्ता के साथ होता है, वहां चेतना निर्मल बनती है, प्राणी-मात्र के प्रति करुणा का भाव जन्म लेता है, शांति और आनंद का स्रोत उद्घाटित होता है।

जहां प्रेम अपरम के साथ होता है, काषायिक वृत्तियों के उद्दीपन के लिए होता है, उद्दाम काम के आसेवन के लिए होता है, वहां चेतना कलुषित होती है, मन चंचल और इन्द्रियां उच्छृंखल बनती हैं, क्षणिक सुख के साथ महान् दुःख को आमंत्रण मिलता है।

अध्यात्म की अतल गहराई का स्पर्श करने वाले मनीषी-संतों की अनुभवपूरित वाणी है—तुम विराट् से प्रेम करो, परम से प्रेम करो, अपने स्वरूप का संधान करो—यही आत्म-साक्षात्कार का पथ है, आत्मा से परमात्मा बनने का पथ है, भक्त से भगवान् बनने का पथ है।

तुम अपनी शक्ति का श्रेयस् में प्रयोग करो, स्वरूप के संधान में लीन बनो, परमात्म-भाव में तन्मय हो जाओ, तुम्हें अक्षय सुख और अव्याहत आनंद का अनुभव होगा।

तुम अपने अहंकार-ममकार का विलय करो, तुम्हारी ध्येय के साथ एकात्मकता सध जाएगी, तुम स्वयं ध्येय और श्रद्धेय बन जाओगे।

तुम इस सचाई का अनुशीलन करो—

शक्ति और प्रेम का क्षुद्र-स्वार्थों, क्षणिक सुखों के लिए विनियोजन का अर्थ है—स्वल्प के लिए महान् का त्याग।

शक्ति और प्रेम का परमार्थ और परम सुख के लिए विनियोजन का अर्थ है—महान् के लिए अल्प का त्याग।

सर्वोत्तम और महान् लक्ष्य की उपलब्धि के लिए संकल्पित व्यक्ति ही महापथ के प्रति प्रणत होते हैं।

भारतीय अध्यात्म परम्परा में परमात्मा और सुगुरु की भक्ति/स्तुति को बहुत महत्त्व दिया गया। वस्तुतः परम के प्रति समर्पण और एकनिष्ठ प्रेम की अभिव्यक्ति ही भक्ति है। अध्यात्म की इसी पवित्र भूमिका पर स्तोत्र एवं स्तुति-काव्यों की रचना हुई। 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' की रचना भी इसी भाव-भूमि पर की गई। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (विक्रम की ५वीं शताब्दी) ने राजा विक्रमादित्य के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर शिवमंदिर में इस प्रभावक स्तोत्र की रचना करते हुए पुरुषादानीय भगवान् पार्श्व की स्तुति की। इस स्तोत्र के ११वें श्लोक की रचना के साथ भगवान् पार्श्व की भव्य प्रतिमा प्रकट हुई।

प्रभो: श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिमा प्रकटाऽभवत्।

(प्रभावक चरित्र, पद्य १४८)

उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में रुद्रलिंग का स्फोटन एवं भगवान् पार्श्वनाथ के बिम्ब का प्रकटन जैन शासन की अतिशय प्रभावना का कारण बना। राजा विक्रमादित्य आचार्य सिद्धसेन के भक्त बन गए। कल्याण मंदिर एक प्रभावक स्तोत्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

जैन परम्परा में अनेक प्रभावक स्तोत्र एवं स्तुति-काव्य सृजित हुए हैं। उनमें दो महत्त्वपूर्ण स्तोत्र हैं—भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मंदिर स्तोत्र। आचार्य मानतुंग रचित भक्तामर स्तोत्र की विषयवस्तु है—भगवान् ऋषभ की स्तुति और कल्याण मंदिर स्तोत्र की विषयवस्तु है भगवान् पार्श्व की स्तुति। ये दोनों स्तोत्र संभवतः हजारों-हजारों श्रद्धालुजनों को कंठस्थ हैं और इनका प्रतिदिन पाठ किया जाता है। अनेक लोगों ने परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सम्मुख यह भावना रखी—ये महान् प्रभावक स्तोत्र

संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। कोई संस्कृतज्ञ ही इनके हृदय को समझ सकता है। यदि इनके हृदय को युग-भाषा हिन्दी में प्रस्तुत किया जाए तो आम आदमी भी इनके माहात्म्य से परिचित हो सकता है। इस भावना के साथ यह अनुरोध भी रहा—परम श्रद्धेय आचार्यवर इन दोनों स्तोत्र काव्यों को अपने व्याख्यान का विषय बनाएं तो सरल-सुबोध भाषा में इनके रहस्यों का प्रकटीकरण हो जाएगा।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इस भावना का सम्मान किया और इस अनुरोध को स्वीकार किया। आचार्यवर ने दिल्ली चतुर्मास (सन् १९६४) तथा लाडनू चतुर्मास (सन् १९६६) में भक्तामर पर बाईस प्रवचन किए। सन् १९६७ में वे प्रवचन 'भक्तामर : अंतस्तल का स्पर्श' पुस्तक में प्रकाशित हुए। परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की वह कृति बहुत समादृत और लोकप्रिय हुई। उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। धर्मप्रवण जनता को भक्तामर स्तोत्र की महत्ता का अभिनव बोध सुलभ हो गया।

'भक्तामर : अंतस्तल का स्पर्श' के पाठकों ने कल्याण मंदिर स्तोत्र पर भी इसी प्रकार प्रवचन कराने का आग्रह किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने बीदासर (सन् २००१) में कल्याण मंदिर पर कुछ प्रवचन किए। वह प्रवचन-शृंखला निर्बाध नहीं चल पाई। एक सुदीर्घ अंतराल के बाद आचार्यवर ने श्रीडूंगरगढ़ प्रवास में (सन् २००६-२०१०) में कल्याण-मंदिर स्तोत्र को पुनः अपने प्रवचन का विषय चुना। आचार्यवर का कल्याण-मंदिर पर पहला प्रवचन ६ दिसम्बर, २००६ तथा अन्तिम प्रवचन १० मार्च, २०१० को हुआ।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ मंत्रवेत्ता आचार्य थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक मंत्रों की आराधना की। हमने उनकी मंत्र-साधना की सिद्धि का साक्षात् भी किया है। मंत्रशास्त्र में भगवान् पार्श्व से जुड़े मंत्रों की प्रचुरता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ स्वयं भगवान् पार्श्व से संबद्ध मंत्रों का जप एवं स्तुति करते थे। कल्याण मंदिर पर प्रदत्त उनके प्रवचनों में अनेक अनुभूत तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है।

प्रस्तुत कृति की भाषा प्रांजल है और भाव उदात्त। इसमें उत्प्रेरणा का यह स्वर प्रखरता से अभिव्यक्त हुआ है—प्रत्येक व्यक्ति में भगवान् पार्श्व बनने की अर्हता है, वह स्वयं भगवान् पार्श्व बन सकता है। अपेक्षित है—भक्त से भगवान् बनने के रहस्य-सूत्रों की पूर्ण निष्ठा से खोज और सर्वात्मना समर्पण भाव से साधना। प्रस्तुत कृति इस संदर्भ में दिशासूचक यंत्र बन सकती है।

कल्याण मंदिर पर अंतिम प्रवचन के अनंतर आचार्यवर ने कहा—हमने अपना काम कर दिया है। अब तुम्हारा काम कब होगा ?

प्रवचन श्रोताओं का भावपूर्ण अनुरोध रहा—यह महत्त्वपूर्ण प्रवचन-माला शीघ्र प्रकाश में आए। हमारी भावना भी यही रही—इस प्रवचनमाला का यथाशीघ्र संपादन करना है।

आचार्यवर का अनुग्रह, श्रोताओं का अनुरोध और इस प्रवचनमाला के यथाशीघ्र संपादन की उपयोगिता प्रत्यक्ष थी इसलिए श्रीडूंगरगढ़ प्रवास में इस प्रवचन शृंखला का संपादन शुरू हो गया। आचार्यवर की विद्यमानता में ही अनेक प्रवचन संपादित हो गए, कुछ प्रवचन 'विज्ञप्ति' में 'साप्ताहिक प्रवचन' स्तम्भ के अंतर्गत प्रकाशित भी हुए। आचार्यवर के महाप्रयाण के पश्चात् वह क्रम विलम्बित हो गया। सन् २०११ में उनके संपादन का क्रम पुनः शुरू हुआ और सन् २०१२ के पूर्वार्द्ध में संपन्न हो गया। आचार्यवर के साहित्य-सम्पादन के कार्य में मैं (मुनि धनंजय) और मुख्यनियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी—दोनों संपृक्त रहे हैं। प्रस्तुत कृति के संपादकीय दायित्व में भी हम सहभागी रहे हैं, यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है।

पूज्य गुरुदेव श्री महाप्रज्ञ के यशस्वी उत्तराधिकारी परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी का मंगल आशीर्वाद और प्रेरणादायी अनुग्रह हमें निरन्तर उपलब्ध है। प्रस्तुत कृति में समाविष्ट कल्याण मंदिर स्तोत्र के पद्यों का सम्यक् अनुवाद परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी के मंगल सान्निध्य एवं मार्गदर्शन में संपन्न हुआ है। आचार्यवर ने न केवल अपने बहुमूल्य क्षणों का

इस कार्य के लिए विसर्जन किया है अपितु अपनी सूक्ष्म मनीषा से अनुवाद का अक्षरशः निरीक्षण कर परिष्कृत किया है। हम किन शब्दों में आभार ज्ञापित करें? केवल यही मंगल भावना करते हैं—आपश्री का वरदायी आशीर्वाद और अनुग्रह इसी प्रकार सदा उपलब्ध रहे।

प्रस्तुत कृति के प्रूफ निरीक्षण आदि कार्यों में समणीवृन्द का भी समुचित योग रहा है। हम उनके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करते हैं।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की इस कृति 'कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श' में आध्यात्मिक आरोहण का पथ निर्दिष्ट है। इस पथ का अनुशीलन और प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को अप्रतिम शांति और अव्याबाध सुख से भर सकता है। हम परम के साथ प्रीति करें, अपनी शक्ति अपने स्वरूप के संधान में नियोजित करें, परम-सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करें—एक दिन हम स्वयं भगवान् बन सकेंगे।

यही ध्येय है, सबके लिए आदेय है और यही जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

१३ सितम्बर, २०१२
जैन विश्व भारती, लाडनू

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

१. विशेषता चरणकमल की	१५
२. महत्त्व है गुरुता का	२८
३. प्रश्न है सामर्थ्य का	३३
४. सफलता की आधार-भूमि	३८
५. एक समस्या : एक समाधान	४७
६. विकल्प का तमस : संकल्प की दीपशिखा	५०
७. महत्त्व नाम-जप का	५७
८. प्रभु रहे हृदय में	६५
९. मूल्य दर्शन का	७०
१०. कौन है तारक?	७६
११. सूत्र काम विजय का	८१
१२. प्रभाव महापुरुष का	८४
१३. कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया?	९१
१४. कहां करें परमात्मा की खोज	९६
१५. देह से विदेह की यात्रा	९९
१६. विग्रह शमन का मार्ग	१०५
१७. ध्याता और ध्येय की एकात्मकता	११०
१८. आराध्य होता है वीतराग	११६
१९. तब बनता है अशोक	१२०
२०. कठिन है बंधन-मुक्ति	१२४
२१. बीज संघर्ष और शांति का	१२७

२२. लक्षण ऊर्ध्वगति का	१३०
२३. आकर्षण का कारण	१३३
२४. प्रभाव पवित्र आभामंडल का	१३६
२५. जरूरत है सार्थवाह की	१३६
२६. कहां है मोह की सत्ता ?	१४१
२७. कांति, प्रताप और यशस्विता का रहस्य	१४५
२८. पवित्र रहे मन	१४८
२९. पराङ्मुख होना भी सीखें	१५२
३०. विरोध में अविरोध का साक्षात्	१५६
३१. लीन रहें अपनी साधना में	१५६
३२. किसी का अनिष्ट न सोचें	१६२
३३. शांतिपूर्ण जीवन का महामंत्र	१६६
३४. महत्त्व है आंतरिक भक्ति का	१७०
३५. सूत्र विपदा से मुक्ति का	१७७
३६. मर्म को पकड़ना सीखें	१८२
३७. समस्या का जनक है मोह	१८६
३८. सफलता का सूत्र है भावक्रिया	१८६
३९. याचना दुःख-बीज को समाप्त करने की	१९२
४०. साधें अभेद प्रणिधान को	१९६
४१. आकांक्षा पवित्रता की	१९६
४२. तादात्म्य परम के साथ	२०२
४३. स्तुति का फल	२०६
परिशिष्ट	२११

१. विशेषता चरणकमल की

आज पौष कृष्णा दशमी है। तीर्थकर पार्श्वनाथ की जयंती का दिन है। आज हजारों लोगों ने उपवास किए हैं।

जैन परम्परा में चौबीस तीर्थकर हुए हैं। पहले तीर्थकर अर्हत् ऋषभ और अंतिम तीर्थकर वर्धमान महावीर। भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थकर हुए हैं। उनके लिए पुरुषादानीय विशेषण प्रयुक्त हुआ है। ऋषभ की स्तुति में आचार्य मानतुंगसूरि ने भक्तामर स्तोत्र की रचना की। यह स्तोत्र पूरे जैन समाज में प्रतिष्ठित है। केवल जैन समाज में ही नहीं, अन्य समाज के जो मंत्रज्ञ हैं, वे भी भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हैं। हम जब जयपुर थे, कुछ अजैन लोग आए। उन्होंने कहा—भक्तामर स्तोत्र का पाठ अवश्य करना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने अर्हत् पार्श्वनाथ की स्तुति में कल्याण मंदिर स्तोत्र लिखा। मंत्र शास्त्र में पार्श्वनाथ प्रमुख रहे हैं। उनकी स्तुति में जितने स्तोत्र लिखे गए हैं, शायद अन्य तीर्थकरों की स्तुति में नहीं लिखे गए। जैन परम्परा के अनुसार भारत में पार्श्वनाथ के जितने मंदिर हैं उतने शायद अन्य तीर्थकरों के नहीं हैं। विघ्न-निवारण के लिए भगवान् पार्श्व के स्तोत्रों का स्वाध्याय किया जाता है। उनकी स्तुति बहुत कल्याणकारी है।

मनुष्य कोई भी काम करता है तो उसमें सफल होना चाहता है। असफलता के लिए कोई काम करना नहीं चाहता। सफलता के लिए पहली शर्त है संकल्प, दूसरी शर्त है नमस्कार और तीसरी शर्त है अहं का विलय। ये तीन बातें होने पर आदमी सफल हो सकता है।

व्यक्ति काम शुरू करता है तो पहले लक्ष्य बनाता है। लक्ष्य की पूर्ति के लिए संकल्प करता है। संकल्प से किया हुआ काम सिद्ध होता है। संकल्प नहीं होता है तो वह काम सफल नहीं होता, सिद्ध भी नहीं होता। सिद्धसेन संकल्प कर रहे हैं कि मैं स्तुति करूंगा। यह एक संकल्प है—मैं स्तवना करूंगा और उसके लिए स्तोत्र की रचना करूंगा।

विशेषता चरणकमल की १५

संकल्प की पूर्ति के लिए सबसे पहले मंगलभावना की अपेक्षा है, जिससे कोई विघ्न-बाधा न आए। इसीलिए कार्य के प्रारंभ में संकल्प के अनंतर नमस्कार किया जाता है। दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र में तीन मंगल माने गये हैं—आदि मंगल, मध्य मंगल और अन्त्य मंगल। मंगल आवश्यक है क्योंकि दुनिया में विघ्न-बाधाएं आती रहती हैं। ऊपर से भी बाधाएं आती हैं, नीचे से भी आती हैं, तिरछे लोक से भी आती हैं और ग्रहजनित बाधाएं भी आती हैं।

आचारांग सूत्र का महत्वपूर्ण वचन है—**उड्डं सोया, अहे सोया, तिरियं सोया**—स्रोत ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं और मध्य लोक में भी हैं। इतनी विघ्न-बाधाओं के बीच जो आदमी जी रहा है, उसके लिए मंगल बहुत जरूरी है। आज इस परमाणु युग में, जैव रासायनिक हथियारों के युग में पता नहीं कब, कहां, क्या घटित हो जाए? इस दुनिया में जीने वाला व्यक्ति अपने चारों ओर एक मंगल कवच बनाए, यह बहुत आवश्यक है। आचार्य ने भी कार्य की सिद्धि के लिए अपना मंगल कवच बनाया।

स्तुति या स्तोत्र की रचना महत्वपूर्ण है। जो अपने से विशिष्ट व्यक्ति हैं, जिनमें विशेषताएं हैं, जिनमें गुणों का विकास हुआ है, उन व्यक्तियों की स्तुति करना हमारी भारतीय परम्परा रही है। संस्कृत-प्राकृत साहित्य में आज भी वह क्रम अविच्छिन्न रूप से चल रहा है।

स्तुति करने का उद्देश्य क्या है? स्तोत्र निर्माण का उद्देश्य क्या है? इसे हम समझें। जो व्यक्ति जिसकी स्तुति करता है, पहले उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है, एकात्मकता स्थापित करता है। जब तक एकात्मकता स्थापित नहीं होती, स्तुति भी नहीं हो सकती। पार्श्व प्रभु में जो विशेषताएं हैं, उन विशेषताओं के साथ स्तोत्रकार सिद्धसेन यदि एकात्मक नहीं होते तो वे भावात्मक स्तुति नहीं कर पाते। कोरे शब्दों का न्यास हो जाता किन्तु वह वास्तव में स्तोत्र नहीं होता। स्तुति के लिए जरूरी है इष्ट के साथ समापत्ति करना। कांच है, स्फटिक है, सामने लाकर लाल वस्तु रख दी तो रंग लाल हो जाएगा। पीली वस्तु रख दी तो रंग पीला बन जाएगा। हरी वस्तु रखी तो उसका रंग हरा हो जाएगा। इसका नाम है समापत्ति—एकात्म हो जाना, उस रूप में हो जाना। पार्श्वनाथ का स्तोत्र बनाने वाला यदि स्वयं पार्श्व नहीं बनता है तो वह पार्श्व की अच्छी स्तुति नहीं कर सकता।

जिसकी हम स्तुति कर रहे हैं, उसके साथ हमारी एकात्मकता हो तभी लाभ होता है। ध्यान का एक प्रयोग है तन्मय ध्यान, तादात्म्य ध्यान। यदि

तुम दूसरे व्यक्ति के गुणों को अपने आपमें लाना चाहते हो, उसकी विशेषता को अपने में प्रकट करना चाहते हो तो उसके साथ तादात्म्य स्थापित करो, एकात्म हो जाओ। यह अनुभव करो कि मैं स्वयं पार्श्व हूँ।

स्तोत्र का पाठ करना ध्यान का एक प्रयोग है, गुणों की अभिव्यक्ति का प्रयोग है, अपने में उन विशेषताओं को आरोपित करने का प्रयोग है जिसकी मैं स्तुति कर रहा हूँ। उसकी विशेषताएं मुझमें आ जाएं, उनका आरोपण हो जाए, मेरे भीतर समा जाएं—इसका मतलब होता है स्तोत्र या स्तुति। हम स्तुति करें और हमारा ध्यान एकाग्र न हो, केवल पाठ का उच्चारण होता चला जाए और ध्यान कहीं दूसरी जगह हो तो गुणों का संक्रमण नहीं होता। विशेषताओं के संक्रमण के लिए एकात्मकता जरूरी है।

आचार्य सिद्धसेन ने संकल्प किया—मैं स्तुति करूंगा। संकल्प हो गया। दूसरा प्रश्न आया—किसकी करूंगा? भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करूंगा। तीसरा प्रश्न आया—कैसे करूंगा? एक परंपरा रही—कोई भी काम करे तो पहले नमस्कार करना जरूरी है। विनम्रता के साथ जो काम शुरू किया जाता है वह सफल होता है। विनम्रता के बिना जो काम किया जाता है वह सफल नहीं होता।

सफलता में सबसे बड़ी बाधा है अहंकार। तात्त्विक दृष्टि से हम देखें तो आगम के आधार पर कहा जा सकता है—अहंकार प्राणी का स्वभाव जैसा बना हुआ है। क्रोध, मान, माया, लोभ—कषाय के चार प्रकार हैं। उधर जीवों की दृष्टि से विचार करें तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये जीवों के छह निकाय हैं। सबसे निम्न कोटि के जीव हैं एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय जीवों में भी निगोद वनस्पति के जीव सबसे ज्यादा अविकसित कोटि के जीव हैं। जैसे आजकल राष्ट्रों का वर्गीकरण किया जाता है—अविकसित राष्ट्र, विकासशील राष्ट्र और विकसित राष्ट्र। मनुष्य विकसित है। जो द्वीन्द्रिय आदि हैं, वे विकासशील हैं। अविकसित हैं निगोद के जीव। सबसे कम विकास उनमें है। मीमांसा की गई कि उनमें कौनसा कषाय होता है। सबसे पहले अहंकार होता है। निगोद का जीव है, इतना सूक्ष्म है, पृथ्वीकाय का जीव है, बहुत छोटा है, पर अहंकार उनमें भी प्रबल होता है। पदार्थ से जो अहंकार आता है, वह तो आगे की बात है, स्थूल बात है।

हम सूक्ष्म मीमांसा करें तो इस सचाई का बोध होगा—अहंकार प्राणी की एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह एक इंस्टिक्ट है। जैन परिभाषा में कहें तो संज्ञा है। आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह

विशेषता चरणकमल की १७

संज्ञा, क्रोध संज्ञा, अभिमान संज्ञा—ये संज्ञाएं हैं। अहंकार प्राणी का एक लक्षण है। छोटे से छोटा जीव भी अहंकार करता है। मनुष्य के पास मन है, समझ है, वह अहंकार क्यों नहीं करेगा? कभी-कभी मन में विचार आता है—इसके पास कुछ भी नहीं, फिर भी इतना अहंकार क्यों? आगम के आलोक में समाधान मिलता है—कुछ होना, न होना अलग बात है। कुछ है इसलिए अहंकार करता है, यह स्थूल बात है। कुछ नहीं है फिर भी अहंकार करता है। इसलिए कि यह उसकी प्रकृति है, संज्ञा है, मौलिक मनोवृत्ति है।

हम कोई अच्छा काम करें तो सबसे पहले अहंकार का परित्याग करना चाहिए, विलयन करना चाहिए। विकास करना है, ऊर्ध्वारोहण करना है, आगे बढ़ना है तो सबसे पहले अहंकार को कम करो। क्रोध भी अहंकार से जुड़ा हुआ है। जितना ज्यादा अहंकार होगा, उतना ज्यादा क्रोध होगा। इसीलिए धर्मग्रंथों में, चाहे वे जैन ग्रंथ हैं, वैदिक ग्रंथ हैं, बौद्ध ग्रंथ हैं—विनम्रता का सबसे ऊंचा स्थान है। कहा गया—बड़ों के पास जाओ, नमस्कार करो। देवता के पास जाओ, नमस्कार करो। किसी के पास जाओ, कुछ लेना है तो विनय करो, नमस्कार करो।

सम्राट् श्रेणिक को विद्या प्राप्त करनी थी। उस विद्या को जानने वाला था चाण्डाल। उस युग में चाण्डालों का बहुत तिरस्कार होता था। आज तो वह स्थिति प्रायः समाप्त हो गई है। सम्राट् श्रेणिक सिंहासन पर बैठा विद्या ग्रहण कर रहा है और चाण्डाल विद्या दे रहा है पर विद्या आ नहीं रही है।

सम्राट् श्रेणिक ने अभयकुमार से पूछा—‘अभयकुमार! क्या बात है? चाण्डाल विद्या पढ़ा रहा है और मुझे विद्या सिद्ध नहीं हो रही है।’

अभयकुमार—‘महाराज! इसमें एक समस्या है।’

सम्राट् श्रेणिक—‘मैं लेना चाहता हूं और यह देना चाहता है, दे रहा है फिर समस्या क्या है?’

अभयकुमार—‘सम्राट्वर! विद्या-दाता का स्थान सदा ऊंचा होता है और विद्या ग्रहण करने वाले का नीचा। विद्या ग्रहण करने के लिए विनम्रता भी जरूरी है। विद्या देने वाला कोई भी हो, चाहे वह किसी भी जाति का हो, वह ऊंचा बैठेगा और लेने वाला नीचे बैठेगा तब विद्या आएगी।’

सम्राट् श्रेणिक सिंहासन से उतर कर नीचे बैठा। चाण्डाल को उच्चासन पर बिठाया। विद्या सिद्ध हो गई।

१८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

अहंकार बहुत बड़ी समस्या है। मैं अनेक बार कहता हूँ—इस धार्मिक समवसरण में जब भी कोई आए तब वह अहंकार की पोटली को दरवाजे के बाहर रख कर फिर भीतर आए तो ग्रहण अच्छा कर सकेगा। उस पोटली को लेकर आएगा तो जो सुनेगा, उसे वह पोटली हजम कर जाएगी, उस व्यक्ति तक वह बात पहुंचेगी नहीं।

हम नमस्कार मंत्र का जप करते हैं। अर्हत् को नमस्कार करते हैं, सिद्धों, आचार्यों और साधुओं को नमस्कार करते हैं। सबको नमस्कार करते हैं। धर्म की बात हम छोड़ दें, व्यावहारिक दृष्टि में अथवा व्यवहार जगत् में भी इसका महत्व है। भगवती सूत्र में शंख पोक्खली का उदाहरण स्पष्ट है। जब श्रावकों ने देखा कि व्यवहार कुछ ठीक नहीं हुआ तो वे शंख पोक्खली के पास गए, वंदना की, क्षमायाचना की। भगवती में स्पष्ट पाठ है—वंदामि नमंसामि। वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं और क्षमायाचना करते हैं।

नमस्कार इतना महत्वपूर्ण तत्व है कि केवल 'णमो' यह भी एक मंत्र बनता है। ॐ ह्रीं नमः, असिआउसा नमः—सैकड़ों मंत्र ऐसे हैं जिनमें नमस्कार ही प्रमुख है। जहां 'नमः' नहीं होता वहां कहीं-कहीं मंत्र अधूरा-सा रह जाता है। मंत्र के साथ जुड़ा हुआ रहता है नमस्कार।

आचार्य सिद्धसेन स्तुति का संकल्प करते हुए कहते हैं—मैं स्तुति से पहले नमस्कार कर रहा हूँ।

नमस्कार किसको? जिनेश्वरस्य अंग्रिपद्मम् अभिनम्य—मैं जिनेश्वर पार्श्व के चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार शरीर का महत्वपूर्ण अवयव है चरण। इसीलिए नमस्कार भी चरण में किया जाता है। अर्हत् पार्श्व का शरीर तो पूरा है उसको नमस्कार करना था। आचार्य ने यह नहीं कहा—आपके मस्तिष्क को नमस्कार करता हूँ, हाथों को नमस्कार करता हूँ, हृदय को नमस्कार करता हूँ। उन्होंने चरण की शरण ली। एक बड़ा प्रश्न है कि शरण चरण की ही क्यों? आखिर आधार क्या है? शरीर का आधार सिर नहीं है। जब कभी शीर्षासन किया जाता है तब सिर आधार बनता है। उस समय पैर ऊपर हो जाते हैं। वह अल्पकालिक होता है, सदा नहीं होता। चरण सदा आधार देने वाला, सदा शरण देने वाला है। गति पैर के आधार पर होती है। एक पैर ऊंचा करके आदमी कुछ क्षण तक खड़ा रह सकता है किन्तु दोनों पैर ऊंचे करके एक क्षण

विशेषता चरणकमल की १६

भी खड़ा नहीं रह सकता। हमारे चलने का आधार है चरण। खड़े रहने का आधार है चरण।

पैर का बड़ा महत्त्व है। मैं तो मानता हूँ—शरीर में जितने अवयव हैं, सबसे ज्यादा उपयोगी कोई अंग है तो वह है पैर। पैर है तो आदमी चल सकता है। पैर है तो स्वस्थ रह सकता है। पैरों में गति नहीं है, चल नहीं सकता। बैठे-बैठे पाचन भी खराब हो जाता है, शरीर के अवयव भी निकम्मे हो जाते हैं। गति है, क्रिया है तो स्वास्थ्य है। जब तक पैरों में गति-शक्ति है, हम चलते रहें तब तक हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। चलना बंद है तो पाचन भी कमजोर हो जाएगा, हृदय की गति में भी अंतर आएगा, दिमाग भी पूरा काम नहीं करेगा। सारे अवयवों में पैर सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। एक दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है—जिसके पैर अच्छे हैं, उसका शरीर अच्छा है।

आजकल एक्स्प्रेसर जैसी वैकल्पिक चिकित्सा की पद्धतियां चल रही हैं। हमारे शरीर में आंख, नाक, कान, फेफड़ा, हृदय, यकृत, तिल्ली, प्लीहा, गुर्दे, आंते—ये सब अवयव अलग-अलग हैं। यदि आप सारा शरीर एक साथ देखना चाहते हैं तो कहां मिलेगा—पैर में, चरण में। एक्स्प्रेसर के अनुसार चरण में पूरा शरीर समाविष्ट है।

सिद्धसेन ने अर्हत् पार्श्व की स्तुति के प्रारंभ में चरण-युगल में नमस्कार किया है। वे अर्हत् पार्श्व के चरणों में कुछ विशिष्टताएं देख रहे हैं। उन विशेषताओं का उल्लेख प्रथम श्लोक में है।

चरणकमल की पहली विशेषता है—**कल्याणमंदिरम्**—वे पैर कल्याण के मंदिर हैं। समझदार व्यक्ति कोई काम करता है तो उसके पीछे कोई न कोई हेतु होता है, कारण होता है, विशेषता होती है। बिना विशेषता के कोई काम नहीं करता। वह चरणकमल कल्याण का मंदिर है इसलिए मैं अंग्रि-पद्म को नमस्कार कर रहा हूँ।

हर आदमी कल्याण चाहता है। कल्याण के अनेक अर्थ हैं। हम इसके दो अर्थों पर विचार करें। कल्याण का एक अर्थ है मंगल। हर व्यक्ति मंगल चाहता है, अमंगल कोई नहीं चाहता। जो भी शुभ काम करता है, पहले मंगल की कामना करता है। मंगल शब्द का उच्चारण करता है, न्यास भी मंगल का करता है, रेखांकन भी मंगल का करता है। सब मंगल के लिए करता है।

२० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

कल्याण का दूसरा अर्थ है आरोग्य। वे चरणकमल आरोग्य के मंदिर हैं। जैन विश्व भारती में 'कल्याणम्' आयुर्वेदिक औषधालय है। एक जैन आचार्य ने ग्रंथ लिखा—**कल्याणकारकम्**। यह आयुर्वेद का ग्रंथ है। **कल्याणं—आरोग्यम्**। पार्श्व प्रभु के चरणों से निकलने वाली ऊर्जा के जो प्रकंपन हैं वे आरोग्य देने वाले हैं। उस ऊर्जा को ध्यान में रखकर आरोग्य के लिए अनेक स्तोत्र और मंत्र रचे गए। उदाहरण के रूप में 'ॐ णमो भगवते श्रीपार्श्वनाथाय सर्व दुरितं अपहर अपहर अजिते महाबले मम शरीरं रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा'—यह आरोग्य का, स्वास्थ्य का बहुत शक्तिशाली मंत्र है। प्रतिदिन इसका सात बार उच्चारण किया जाए तो स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है, आदमी बहुत समस्याओं से बच सकता है।

पार्श्व के चरणकमल कल्याणकारक हैं, अशिव को मिटाने वाले, अमंगल को दूर करने वाले और स्वास्थ्य को देने वाले हैं। स्वास्थ्य में शरीर का स्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य, भावनात्मक स्वास्थ्य और आत्मा का स्वास्थ्य, सब कुछ समा जाता है।

चरणकमल की दूसरी विशेषता है—**उदारम्**—आप उदार हैं। उदार का अर्थ है दाता। पार्श्व का जो चरण है वह मनोभीष्ट दाता—मनवांछित फल देने वाला है। इसी आधार पर कामनापूर्ति के लिए, अभीष्ट की प्राप्ति के लिए अनेक मंत्र पार्श्व के नाम पर लिखे गए हैं। वे मंत्र चिन्ता को दूर करने वाले हैं और इष्ट को देने वाले हैं। व्यक्ति जो चाहता है, जिसके लिए कामना करता है वह उसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिए बहुत सारे मंत्रों का जप किया जाता है।

एक्यूप्रेशर चिकित्सा पद्धति के संदर्भ में उदार शब्द की व्याख्या करें तो अर्हत् पार्श्व के चरणकमल उदार हैं, विशाल हैं और उनमें सब कुछ समाया हुआ है। जो चाहिए वह सब कुछ है। कहीं कोई कृपणता नहीं है, संकुचितता नहीं है।

अब कल्याण-मंदिर और उदार-दोनों को साथ जोड़ें तो समग्र स्वास्थ्य की व्याख्या हो जाती है। यानी सब चिकित्सा की पद्धतियां या चिकित्सा के संवादी केन्द्र आपके चरणकमल में समाए हुए हैं।

चरणकमल की तीसरी विशेषता है—**अवद्यभेदि**—पाप को नष्ट करने वाले हैं। यहां एक प्रश्न हो सकता है—जैन दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी दर्शन है। आदमी स्वयं पाप करता है, स्वयं ही उसका नाश करता है। न कोई दूसरा करने वाला

है और न कोई दूसरा नाश करने वाला है फिर यह विशेषण क्यों? इस संदर्भ में एक पद्धति को हमें समझ लेना है। एक नय है जहां आरोपण किया जाता है। यहां उपादान का निमित्त में आरोपण कर दिया है। हम आत्मकर्तृत्ववाद में कहीं भी बाधा डालना नहीं चाहते। हम निमित्त को भी मान लेते हैं कि वह करने वाला है। निमित्त कारक होता है। कुम्हार घड़े का निर्माता है पर मूल कारण तो नहीं है। पर घट के निर्माण में कुंभकार निमित्त है इसलिए कुंभकार को भी कर्ता मान लिया। 'अवद्यभेदि' यानी उस चरणकमल के ध्यान या नमस्कार से पाप का भेदन हो सकता है। यहां निमित्त में कर्तृत्व का आरोपण कर बताया गया है कि नमस्कार पाप का नाश करने वाला है।

भगवान् पार्श्व के चरणकमल में अवद्य का भेदन करने की शक्ति है। अवद्य का एक अर्थ होता है पाप। पाप का मतलब है अशुभ। आपका चरणकमल अशुभ का भेदन करने वाला है, अशुभ को दूर करने वाला है। अवद्य का व्यापक अर्थ लें-विघ्न-बाधा को दूर करने वाला है। आदमी के जीवन में बहुत सारे विघ्न आते हैं, बाधाएं आती हैं। अगर पास में शक्ति हो तो वह विघ्न-बाधाओं को दूर कर सकता है। जिसके पास कोई शक्ति नहीं है वह विघ्न आने पर निराश, हताश होकर बैठ जाता है। बाधा आती है, पैर ठिठक जाते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति के पास विघ्न-बाधा को दूर करने की शक्ति है, वह विघ्न-बाधाओं को भी दूर कर देता है। जयाचार्य ने **विघ्नहरण** की ढाल लिखी। उसमें एक संकेत दिया है—**होनहार की बात न्यारी**। इस विघ्नहरण की ढाल से बहुत सारे विघ्न समाप्त होते हैं पर निश्चय की बात अलग है। नियति को टालना बड़ा कठिन होता है किन्तु इसके अतिरिक्त जो विघ्न-बाधाएं आती हैं, वे दूर हो जाती हैं।

गुरुदेव तुलसी के स्वास्थ्य में कभी-कभी समस्या आती थी, श्वास आदि का प्रकोप होता था। बहुत वर्ष पहले की बात है। सरदारशहर के प्रमुख श्रावक मदनचंदजी गोठी दर्शनार्थ आए। वे आगम-रहस्यों के वेत्ता थे। आगम के रहस्यों का जानकार वैसा व्यक्ति मैंने कम देखा। आगम में क्या रहस्य हैं, इसको वे बहुत जानते थे। उन्होंने गुरुदेव से निवेदन किया—गुरुदेव! मेरी एक प्रार्थना है, आप विघ्नहरण की ढाल का प्रतिदिन पाठ करें। गुरुदेव ने उनकी बात मान ली और विघ्नहरण की ढाल का पाठ शुरू कर दिया। जिस चौपनिया (डायरी) से गुरुदेव विघ्नहरण की ढाल का पाठ करते थे, वह चौपनिया मेरे पास विद्यमान है।

२२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

यह ध्यान रहे—हम धर्म के द्वारा विघ्नों को दूर कर सकते हैं। धर्म के अनेक प्रकार हैं। जप करना भी धर्म का एक प्रकार है। जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि साधना के अनेक प्रयोग हैं। स्वाध्याय का एक अर्थ है ग्रंथों को पढ़ना। पतंजलि ने तथा अनेक प्राचीन आचार्यों ने स्वाध्याय का अर्थ जप किया है। **मंत्रजपः स्वाध्यायः**—स्वाध्याय का अर्थ है मंत्र का जप करना। जप के द्वारा, मंत्र के उच्चारण के द्वारा हम एक प्रकंपन पैदा करते हैं। हमारा जीवन क्या है? सारा जीवन प्रकंपनों का ही खेल है। प्रकंपन ही प्रकंपन। अनिष्ट प्रकंपन आते हैं, आदमी बीमार हो जाता है। इष्ट प्रकंपन आते हैं, आदमी स्वस्थ हो जाता है।

आगम में यक्षावेश का उल्लेख मिलता है, जिसके लिए कहा जाता है—भूत लग गया, प्रेत लग गया। भूत क्या लगता है? व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य के रचनाकारों ने बहुत सुंदर विवेचन किया है—कोई प्रेतात्मा कुपित होती है तो एक व्यक्ति में अनिष्ट पुद्गलों का प्रक्षेप कर देती है। अनिष्ट पुद्गलों के प्रक्षेप का अर्थ है यक्ष का आवेश, वही है भूत का लगना। अगर मंत्र आदि के द्वारा उन अनिष्ट पुद्गलों को बाहर निकाल दें, इष्ट पुद्गलों का प्रक्षेप कर दें तो आदमी स्वस्थ हो जाता है।

आचार्य सिद्धसेन ने बहुत महत्वपूर्ण बात कही—पार्श्व के चरणकमल से जो ऊर्मियां निकलती हैं, जो रश्मियां निकलती हैं, जो ऊर्जा के प्रकंपन निकलते हैं, वे विघ्न-बाधाओं को, अनिष्ट को दूर कर देते हैं।

चरणकमल की चौथी विशेषता है—**भीताभयप्रदम्**—आपके चरणकमल में वह शक्ति है जो डरे हुए लोगों को अभय देती है। अभय के दो अर्थ ले सकते हैं—

जो संसार से डरे हुए हैं, उनको अभय देते हैं।

जो किसी समस्या से डरे हुए हैं अथवा जिन्हें चिन्ता या डर सताता है, उनको अभय देते हैं।

मंत्रशास्त्र में और विशेषतः जैन मंत्रों में सर्वाधिक मंत्र पार्श्वनाथ के हैं। संकट निवारण के लिए, भय निवारण के लिए, विपदा को दूर करने के लिए, संपदा को पाने के लिए—सैकड़ों उद्देश्यों से मंत्रों का निर्माण हुआ है। जैसे शैव शास्त्र में शिव से जुड़े हुए मंत्र हैं, गोरखनाथ पद्धति में गोरख से जुड़े हुए मंत्र हैं वैसे ही जैन मंत्रों में अधिकांश मंत्र पार्श्वनाथ से जुड़े हुए हैं।

विशेषता चरणकमल की २३

मैंने ध्यान का प्रभाव देखा है, मंत्र-जप का प्रभाव देखा है। आमेट में पूज्य गुरुदेव का चातुर्मास था। प्रेक्षाध्यान का शिविर शुरू होने वाला था। जयसिंहपुर (महाराष्ट्र) से एक परिवार आया। परिवार के लोगों ने बताया—हमारे परिवार में एक जटिल समस्या है। हमारी छोटी बहू को बहुत डर लगता है। वह दिन-रात डरती है। अकेले में भी डरती है और सबके बीच रहती है तो भी डरती है। अंधेरे में भी डरती है और प्रकाश में भी डरती है। हर समय उसे डर लगता रहता है, क्या करें?

मैंने कहा—शिविर में रहो, प्रयोग करो, देखो क्या होता है। उसने शिविर में भाग लिया। ध्यान, अनुप्रेक्षा और मंत्र-जप के प्रयोग किए। कुछ दिन बाद जब जाने लगे, तब मैंने पूछा—क्या स्थिति है? उसने स्वयं भी कहा और परिवार वालों ने भी कहा—लगभग अस्सी-नब्बे प्रतिशत भय समाप्त हो गया है। थोड़ा-सा रहा है, प्रयोग करेंगे तो वह भी समाप्त हो जाएगा। आचार्य सिद्धसेन ने कहा—पार्श्व प्रभु के चरणकमलों में डरे हुए लोगों को अभय देने की क्षमता है। वे अभय देने वाले हैं।

चरणकमल की पांचवीं विशेषता है—अनिन्दितम्। बड़ा विचित्र विशेषण दिया है आचार्य ने। प्रश्न है कि चरण में निन्दित-अनिन्दित का सवाल क्या है? इसकी गहराई में जाएं तो पता चलेगा—जो वस्तु जिस रूप में होनी चाहिए, उस रूप में नहीं होती है तो वह निन्दित बन जाती है। जिस अवयव का जैसा आकार होना चाहिए, यदि वैसी रचना नहीं है तो वह निन्दित है और यदि उसी रूप में है तो वह प्रशस्त बन जाती है। प्रशस्त और निन्दित—दोनों विरोधी हैं। अकुत्सित यानी कुत्सित नहीं है, घृणा, जुगुप्सा के योग्य नहीं है, गर्हा के योग्य नहीं है। जो गर्हा, जुगुप्सा और घृणा के योग्य वस्तु होती है वह निन्दित कहलाती है। एक परम्परा रही है अंग-भंग की। थोड़ी-सी अंगुली काट दी, वह निन्दित हो गया।

प्रसिद्ध घटना है। राजा को देवी के सामने बलि चढ़ाने के लिए ले जाया गया। बलि चढ़ाने से पूर्व स्नान कराया गया। स्नान कराने के बाद पूरे शरीर को देखा तो पाया कि राजा की एक अंगुली कटी हुई है। निन्दितम्—यह घृणित है, जुगुप्सित है। बलि के योग्य नहीं है। बलि के लिए सर्वांगसुन्दर, अखण्ड व्यक्ति चाहिए। उस निन्दित अवयव के कारण राजा मुक्त हो गया।

निन्दित का मतलब है कुत्सित, जुगुप्सित शरीर वाला। पार्श्व का चरणकमल कैसा है? अकुत्सित, अनिन्दित। कहीं से भग्न और विकृत

नहीं। जैसा चाहिए वैसा है। अनिन्दित का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह देवों द्वारा पूज्य है इसलिए अनिन्दित है। यहां निन्दा का प्रचलित अर्थ नहीं लेना चाहिए। क्या कोई आदमी है, जिसकी निन्दा हो? पैरों की क्या निन्दा होगी?

हम रहस्य तक जाने का प्रयत्न करें। ऐसे चरण हैं, जो रचना की दृष्टि से बिलकुल निर्दोष हैं, अणुमात्र भी जिनमें दोष नहीं है। पैरों की रचना का बड़ा महत्त्व होता है। पैर की रचना दोषपूर्ण होती है तो शरीर भी अच्छा नहीं रहता, दिमाग भी अच्छा नहीं रहता, भाग्य भी अच्छा नहीं रहता। पैर की रचना पूर्णतः निर्दोष होती है तो शरीर की आभा विशिष्ट होती है, सौभाग्य का अनुभव होता है। ज्योतिर्विद् पैर-रचना और पैर की रेखाओं को देखकर बता देते हैं कि इस व्यक्ति का भाग्य कैसा है? चिन्तन कैसा है? भविष्य कैसा रहेगा?

संस्कृत धातु है **निदि-कुत्सायाम्**। आपके चरणकमल कुत्सित नहीं हैं, गर्हित नहीं हैं, एकदम व्यवस्थित हैं। पैर की अंगुलियां, अंगुष्ठ, तल-सारा व्यवस्थित है। पैर कैसा होना चाहिए? **कूर्मोन्नतम्**—पैर चपटा हुआ नहीं होना चाहिए, कछुए की तरह उन्नत होना चाहिए। आगम साहित्य में पैर का वर्णन उपलब्ध होता है। इतने रहस्य हैं आगमों में, इतनी विधियां हैं आगमों में। यदि थोड़ी अनुप्रेक्षा के साथ, गहराई के साथ पढ़ें तो बहुत लाभ उठा सकते हैं।

बहुत लोग मेरे पास आते हैं, पूछते हैं—क्या आपके पैरों में सूजन है? अनेक व्यक्तियों ने अनेक बार यह प्रश्न पूछा। मैंने कहा—न पैरों में सूजन है, न मन में सूजन है। कहीं भी सूजन नहीं है। यह तो नैसर्गिक रचना का ही प्रभाव है कि पैर उभरा हुआ है, उन्नत है। पैर की रचना का बहुत महत्त्व है। वैसे तो शरीर के हर अवयव की एक अलग पहचान होती है। इसी आधार पर एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बना है **अंगविज्जा**। यह अंग रचना का बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। हाथ कैसा है? हाथ की अंगुलियां कैसी हैं? पैर कैसा है? पैर की अंगुलियां कैसी हैं?

बहुत वर्ष पहले एक अच्छा ज्योतिर्विद् आया। उसने आचार्यवर से कहा—‘गुरुदेव! आपकी अंगुली दिखाएं। अंगुली मिलती है अथवा कैसे रहती है?’ अंगुली देखकर उसने बहुत सारी बातें बताईं। शरीर-रचना का एक पूरा शास्त्र है—अंगशास्त्र, जिसके आधार पर हम हाथ की रचना, पैर की रचना, अंगुलियों की रचना, कानों की रचना का वैशिष्ट्य समझ सकते हैं। कान और

विशेषता चरणकमल की २५

आंख की रचना का भी महत्व है। गुरुदेव तुलसी के कान और आंख कैसे थे? मैंने एक गीत में लिखा है—

कानों की छटा निराली,
आंखें इमरत की प्याली।
किसने सौन्दर्य सजाया रे,
महाप्राण गुरुदेव।।

गुरुदेव के शरीर की रचना अद्भुत थी। गुरुदेव मर्यादा-महोत्सव करने के लिए सरदारशहर पधार रहे थे। रतनगढ़ से विहार हुआ। बीच में एक गांव आता है मेलुसर। वह ब्राह्मणों का गांव है, जहां पुराने जमाने में जौहर हुआ था। जब गुरुदेव मेलुसर के पास पधार रहे थे तब एक ब्राह्मण, जो उस गांव में बाहर से आया हुआ था, ने गुरुदेव को देखा, देखकर बोला—‘आचार्यजी! आप महात्मा बुद्ध जैसा काम करेंगे।’

हमने पूछा—‘इसका कारण?’

उसने कहा—‘ऐसे कान या तो मैंने महात्मा बुद्ध की प्रतिमा में बुद्ध के देखे हैं या आपके देखे हैं। आप बुद्ध जैसा काम करेंगे।’

हर अवयव की रचना और उसका प्रभाव अलग प्रकार का होता है। आचार्य सिद्धसेन ने ठीक कहा—प्रभो! आपके चरणकमल अनिन्दित हैं, पूर्णतः निर्दोष हैं, कहीं कोई दोष नहीं है।

चरणकमल की छठी विशेषता है—**पोतायमानम्**—ये चरणकमल जलपोत हैं। जो व्यक्ति दुःखों के सागर में, समस्याओं के सागर में या भवसागर में डूब रहा है, उसे उबारने के लिए आपके चरणकमल जहाज हैं, जलपोत हैं। वे सिद्धि तक ले जाने वाले हैं, परम तक ले जाने वाले हैं। जो बीच में ही अटका दे, वह अच्छा नहीं होता। जो पार पहुंचा दे उसका महत्व है। अर्हत् पार्श्व का चरण संसार से पार पहुंचाने वाला है। कवि ने संसार की तुलना समुद्र से की है। संसार का एक अर्थ है चातुर्गतिक संसार—जिसमें चार गतियां हैं। प्राणी के भटकने के लिए चार स्थान हैं—नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति, देव-गति। चातुरन्त संसार—जिसका कहीं भी अन्त नहीं आता, जिसमें जन्म-मरण की परम्परा चालू रहती है। इस चातुरन्त संसार में सारे प्राणी डूब रहे हैं। उन्हें बाहर निकालने के लिए, पार पहुंचाने के लिए आपके चरणकमल पोतायमान हैं, जहाज के समान हैं। उसमें जो बैठ गया वह चातुरन्त संसार से पार चला गया यानी मोक्ष में चला गया।

२६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आचार्य ने चरणों को नमस्कार व्यर्थ ही नहीं किया है। उनमें छह विशेषताएं देखी हैं। हम एक-एक विशेषता पर फिर ध्यान दें—वे चरणकमल—

कल्याण मंदिर हैं।	भीताभयप्रद हैं।
उदार हैं।	अनिंदित हैं।
अवद्यभेदि हैं।	जलपोत हैं।

आपके पैरों की ये छह विशेषताएं आदमी के जीवन को संवारने वाली, कुशल मंगल बनाने वाली हैं। ऐसे चरणारविन्द को नमस्कार कर मैं आपकी स्तुति कर रहा हूं। मुझे विश्वास है कि मेरी स्तुति बहुत सार्थक होगी।

२. महत्त्व है गुरुता का

श्रमण परंपरा के आज दो धर्म संप्रदाय हैं—जैन और बौद्ध। इन दोनों परम्पराओं का मूल स्रोत पार्श्व है। पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली और व्यापक था। उनकी यात्राएं अरब आदि अनेक देशों में हुईं। इतिहासकार इस विषय में खोज कर रहे हैं और कुछ तथ्य संकलित भी हो रहे हैं। उनके बारे में अभी भी बहुत अनुसंधान की जरूरत है।

पूज्य गुरुदेव तुलसी के धवल समारोह के समय असम का एक विद्वान् मेरे पास आया, उसने कहा—‘मैं नाग जाति पर शोध कर रहा हूं। पार्श्वनाथ और महावीर—दोनों का वंश नाग था। ज्ञातवंश तो बाद में चल पड़ा। मूलतः ये दोनों तीर्थंकर नागवंशीय हैं। नागवंश असम तक फैला हुआ था। पार्श्वनाथ ने असम की, नागालैण्ड की यात्रा की थी। उस पर मैं रिसर्च कर रहा हूं, पुस्तक लिख रहा हूं।’

महाकवि तुलसीदास जी ने रामायण लिखी। उन्होंने रचना के प्रारंभ में पार्श्व को नमस्कार किया। अनेक विद्वानों ने अपनी रचना से पूर्व पार्श्व को नमस्कार किया। ऐसा लगता है—उस समय पार्श्व का क्षेत्र बहुत व्यापक था। उस अर्हत् पार्श्व का हम एक स्तोत्र के माध्यम से वर्णन कर रहे हैं।

स्तोत्रकर्ता आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् पार्श्व के चरणकमल में नमस्कार किया। नमस्कार के बाद संकल्प किया—**स्तवनं करिष्ये—मैं स्तवन करूंगा।**

एक बात मन में आई—मैंने संकल्प तो कर लिया, पर अपने घर को नहीं देखा। पास में जो पूंजी है, उसे नहीं देखा और व्यापार शुरू कर दिया। मैंने अपने सामर्थ्य को नहीं देखा, शक्ति को नहीं तोला। मैंने यह नहीं सोचा—मैं किसकी स्तुति करने जा रहा हूं? किसका स्तवन बना रहा हूं? जिसका स्तवन सुरगुरु भी नहीं कर सकता, क्या उसकी स्तुति में मैं सफल हो सकता हूं? देवताओं का गुरु है बृहस्पति। विद्या का गुरु है बृहस्पति। ज्योतिषी भी किसी की जन्मकुंडली को देखते हैं, तो यह देखते हैं कि बृहस्पति कैसा है? बृहस्पति अच्छा है तो विद्या

२८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

का अच्छा विकास होगा। बृहस्पति कमजोर है तो विद्या का विकास नहीं होगा। बुद्धिमानों में सबसे पहला स्थान आता है बृहस्पति का, सुरगुरु का।

बुद्धिमतां कः प्रथमः? बुद्धिमानों में प्रथम कौन है? सुरगुरुः यानी बृहस्पति। जो लोग बुद्धि के लिए, विद्या के विकास के लिए बृहस्पति का ध्यान करते हैं वे बृहस्पति जैसी बुद्धि वाले बन सकते हैं। सुरगुरु बृहस्पति भी जिसका वर्णन नहीं कर सकता, स्तुति नहीं कर सकता, क्या उसकी स्तुति हो सकेगी? वह बृहस्पति सुविस्तृत मति वाला है। मैं (आचार्य सिद्धसेन) अल्पमति हूँ। जिसकी मति का कोई पार नहीं है वह बृहस्पति भी जिसकी गरिमा का वर्णन नहीं कर सकता, जिसकी स्तुति करने में समर्थ नहीं है उस अर्हत् पार्श्व की स्तुति का मैंने संकल्प किया है। मैंने दुरूह कार्य हाथ में ले लिया। मैं जिसकी स्तुति कर रहा हूँ वह साधारण व्यक्ति नहीं है। **गरिमान्बुराशेः**—गरिमा का समुद्र है, गौरव का समुद्र है।

जिस आदमी में एक गुण होता है उसकी प्रशंसा करना सरल है। विशेषता बतला दी कि देखो, इस आदमी में सेवा की विशेषता है, इस आदमी में कंठस्थ करने की विशेषता है, इसमें जप की विशेषता है। जिसमें जो विशेषता है उसका वर्णन कर दिया। पर जहां गरिमा का, गौरव का, विशेषताओं का समुद्र सामने आ गया, वहां प्रश्न होता है कि किस बिन्दु को लेकर बात करूँ। सामने बिन्दु नहीं, सिन्धु है। मैंने जिसकी स्तुति करने का काम हाथ में लिया है वह पहले तो भारी नहीं लगा, अब लगता है कि मैंने भारी-भरकम काम हाथ में ले लिया।

समुद्र का पार पाना बहुत कठिन होता है। आज हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तान के बाहर जो समुद्र हैं, उनका पार पाना भी कठिन है। दूसरी नीहारिकाओं में जाएं, दूसरे लोकों में जाएं तो वहां के समुद्र कितने विशाल हैं। आज नई-नई नीहारिकाओं की खोज हो रही है। समाचार-पत्र में पढ़ा-ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने ऐसा यंत्र बनाया है जिससे उन्होंने नई नीहारिका की खोज की है, नए ग्रह-मंडल को खोजा है। इतनी विशाल नीहारिकाएं हैं जिनके सामने हमारा भूखंड तो बहुत छोटा है, एक बिन्दु जितना भी नहीं है। इतने बड़े-बड़े क्षेत्र हैं और इतने विशाल समुद्र हैं।

पार्श्व गरिमा का अंबुराशि-समुद्र है। गरिमा एक विशिष्ट शब्द है। हलका और भारी—ये दो स्पर्श हैं। हलका है, भारी कम है। भाष्यकार हलके

महत्त्व है गुरुता का २६

के लिए रुई का और भारी के लिए लोहे का उदाहरण देते हैं। एक किलोग्राम रुई और एक किलोग्राम लोहा-तराजू के दो पलड़ों में रखें। लोहा पलड़े के थोड़े भाग में समा जाएगा। रुई जिस पलड़े में होगी, वह पूरा भर जाएगा क्योंकि रुई हलकी है और लोहा भारी है।

बहुत महत्त्व है गरिमा का, गुरुत्व का। जिस व्यक्ति में गरिमा है, गुरुत्व है, वह बहुत महान् है। बड़ी बात है गुरु होना। जो व्यक्ति सत्य के अंतस्तल को जानता है, वह गुरु होता है। हर वस्तु के दो रूप होते हैं—एक भीतर का रूप, एक बाहर का रूप। जो सत्य के अंतस्तल तक जाता है, वह गुरु होता है। सत्य का भी अपार समुद्र है। उस सत्य की गहराई तक जाना गुरु का काम है। आज के वैज्ञानिक भी सत्य की खोज में लगे हुए हैं। उनके पास अत्याधुनिक उपकरण हैं, सूक्ष्म यंत्र हैं, साधन हैं। साधनों के द्वारा सत्य की खोज कर रहे हैं। नित नई-नई खोजें हमारे सामने आ रही हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपनी चेतना को निर्मल, विशुद्ध और व्यापक बना लेता है वह किसी यंत्र के बिना पूरे विश्व को जान लेता है, पूरे विश्व की गतिविधि को जान लेता है। जिसकी चेतना इतनी निर्मल होती है, वह वास्तव में गुरु होता है। उस गुरु की गरिमा और जो गरिमा का भी समुद्र है, उसकी स्तुति करना मेरे वश की बात नहीं है।

सिद्धसेन इसी श्लोक में आगे कहते हैं—**तीर्थेश्वरस्य**—मैं उस अर्हत् पार्श्व की स्तुति कर रहा हूँ, जो **तीर्थेश्वरस्य**—तीर्थकर हैं, नायक हैं, प्रवर्तक हैं। **कमठस्मय धूमकेतोः**—जो बुराइयों के प्रज्वलन के लिए अग्नि के समान हैं। अर्हत् पार्श्व ध्यान में खड़े थे। कमठ ने अनेक कठिनाइयां पैदा की, किन्तु पार्श्व ने अपनी ध्यानमुद्रा के द्वारा निमित्तों को निष्प्रभावी बना दिया। कमठ का अहंकार चूर-चूर हो गया।

अर्हत् पार्श्व, जो इतने शक्तिशाली हैं और इतने विशिष्ट हैं, उनकी मैं स्तुति कर रहा हूँ। आचार्य अपनी शक्ति की ओर देख रहे हैं, सोच रहे हैं—कहां मैं और कहां पार्श्व? इस विकल्प का विलय इस निश्चय के साथ होता है—मैं तो स्तुति करूंगा। जब मैंने अर्हत् पार्श्व के चरणकमल की वंदना कर ली तो फिर चिन्ता किस बात की है। अब मेरे सामने कोई विघ्न नहीं आएगा, कोई बाधा नहीं आएगी।

मानतुंगसूरि जब भक्तामर स्तोत्र लिखते हैं, तब यही बात कहते हैं। सिद्धसेन भी यही बात कहते हैं। कोई भी व्यक्ति भावनावश यह संकल्प तो कर लेता है कि मैं यह काम करूंगा। पर जब उसकी विशालता और गहराई

को देखता है तो एक बार पैर ठिठक जाते हैं, रुक जाते हैं। आचार्य भी रुक रहे हैं, सोच रहे हैं—मैंने संकल्प कर लिया, पर संकल्प को कैसे पूरा करूं? जो व्यक्ति शक्तिशाली होता है, वह संकल्प के साथ विरत नहीं होता अपितु संकल्प की दिशा में प्रस्थान कर देता है। पूरा होना तो आगे की बात है किन्तु वह अपने कार्य को प्रारंभ कर देता है।

इस प्रसंग में आचार्य तुलसी के संकल्प की चर्चा करना चाहता हूं। आचार्य तुलसी ने सोचा—जैन दर्शन महत्त्वपूर्ण दर्शन है। विश्व दर्शनों की तुलना में प्रथम पंक्ति में पहला स्थान पाने जैसा दर्शन है किन्तु लोग जान नहीं रहे हैं। जैन लोग सुप्त हैं। उनको यह चिन्ता नहीं कि हमें इतना अमूल्य धर्म, दर्शन और तत्त्व मिला है, इसे दूसरों तक पहुंचाएं। इस दिशा में कोई विशेष चिन्तन नहीं चल रहा है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किया था। मूर्तिपूजक समाज के हीरविजयसूरि ने कुछ काम किया था। वीरेन्द्रराघवजी ने थोड़ा प्रयत्न किया, पर व्यापक प्रयत्न नहीं हुआ। गुरुदेव तुलसी ने इस दिशा में व्यापक प्रयत्न किए। उनका चिन्तन, उनकी दूरदर्शिता और उनका भविष्य-दर्शन अलौकिक था। मैंने ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में नहीं देखा। उनके मन में एक संकल्प जगा—जैन धर्म को विश्व के अंचल तक पहुंचाना चाहिए। उस संकल्प की पूर्ति में अनेक प्रयत्न हुए, अनेक दिशाओं में काम चला। उसी की एक कड़ी, शाखा या रश्मि है समण श्रेणी। यह चिन्तन किया गया कि इस श्रेणी के द्वारा यह काम हो सकता है। बड़ी कठिनाइयां, बड़े प्रश्न, बड़ी उलझनें आईं। उन सबके बीच समण दीक्षा का प्रवर्तन हुआ, समण श्रेणी की स्थापना हुई और वह प्रतिष्ठित हो गई। आज समण श्रेणी की मांग बढ़ रही है। विश्व भर में जहां भी बड़ी-बड़ी कॉन्फ्रेंस होती हैं, समणियां जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। गत वर्ष दक्षिण कोरिया में सियोल में कॉन्फ्रेंस हुई। पाश्चात्य दार्शनिक केवल पश्चिमी दर्शन को दर्शन मानते हैं, भारतीय दर्शन को दर्शन नहीं मानते। वहां के लोग जैन धर्म को धर्म मानते हैं, रिलिजन मानते हैं, दर्शन नहीं मानते। प्रारंभ में उस कॉन्फ्रेंस में बड़ी कठिनाई से स्थान दिया फिर एक संपर्क हो गया। उन्होंने जैन दर्शन को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह तथ्य स्वीकार किया—केवल पश्चिमी जगत में ही दर्शन, फिलॉसफी नहीं है, भारत में भी दर्शन का विकास हुआ है, जैन दर्शन भी बहुत महत्त्वपूर्ण दर्शन है।

समणियों की विदेश यात्रा का प्रारंभ वि. सं. २०४० (सन् १९८३) में हुआ। समणी स्मितप्रज्ञा (साध्वी विश्रुतविभा), समणी मधुरप्रज्ञा—इन दोनों

महत्त्व है गुरुता का ३१

की पहली विदेश यात्रा हुई। आज अट्ठाईस वर्षों से अनवरत वह काम चल रहा है। मुझे संतोष है कि आज जैन धर्म और महावीर को लोग जानने लग गए। विदेशों में लोग जानते ही नहीं थे कि महावीर कौन हैं? जैन कौन होते हैं? न महावीर का नाम जानते और न जैन धर्म का नाम, फिर औरों की तो बात ही क्या? एक अज्ञात विषय था किन्तु एक महापुरुष का संकल्प अधूरा नहीं रहता।

अभी अंतर्राष्ट्रीय प्रेक्षाध्यान शिविर हुआ। उसमें रशिया, यूक्रेन, कजाकिस्तान आदि सात देशों के लोग आए। आज वहां प्रेक्षाध्यान के अनेक सेन्टर चल रहे हैं। प्रत्येक सेन्टर में प्रशिक्षक अनेक लोगों को प्रयोग करा रहे हैं। यूक्रेन की एक महिला का पत्र मिला, वह भारत में नहीं आई। उसने प्रशिक्षिका अलवानिया से प्रेक्षाध्यान सीखा। उसने लिखा—‘आचार्यश्री! मैंने प्रेक्षाध्यान से बहुत कुछ सीखा है। मैं कोई कल्पना की बात नहीं कर रही हूं। मैं रियलाइज कर रही हूं, मैं साधना करते-करते यहां तक पहुंच गई हूं—आई एम नॉट बॉडी, आई एम सोल—मैं शरीर नहीं हूं, मैं आत्मा हूं।’

गुरुदेव का संकल्प आज बहुत फलवान हो रहा है। हम गुरुदेव को श्रेय क्या दें, वे स्वयं श्रेयपुरुष थे।

महापुरुष का संकल्प फलवान होता है। आचार्य सिद्धसेन भी महापुरुष थे। उन्होंने संकल्प किया—प्रभो पार्श्व! मैं आपकी स्तुति करूंगा। उन्हें विश्वास था—उनका संकल्प फलवान होगा, वे स्तोत्र की रचना में सफल बनेंगे।

इस संकल्प की सिद्धि के लिए अपनी पुष्ट भावना के द्वारा आचार्य अपना कार्य प्रारम्भ कर रहे हैं। यह एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। अहं विलय और नमस्कार के साथ इसका प्रारम्भ हुआ है। अहं विलय कार्यसिद्धि का महान् मंत्र है। जो व्यक्ति सफल होना चाहता है, उसके लिए यह सूत्र महान् पथदर्शक हो सकता है।

३. प्रश्न है सामर्थ्य का

आचार्य सिद्धसेन ने सोचा—मैंने स्तवन का संकल्प किया है पर मेरे सामने कठिनाई है। कठिनाई क्या है, उसकी व्याख्या मैं गुणों के संदर्भ में कर रहा हूँ। गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। व्यवहार की भाषा में कहें—आदमी बहुत अच्छा है, भला आदमी है, आदि-आदि—यह सामान्य गुण है। विशेष गुण अलग प्रकार के होते हैं। यह व्यक्ति कितना धीर है, कितना गंभीर है, कितना परकल्याणकारी है, कितना हितैषी है, आदि-आदि विशेषताएं आ जाती हैं। सामान्य गुण तो बहुत लोगों में होते हैं। विशेष गुण विरल लोगों में होते हैं।

विकास भी दो प्रकार का होता है—सामान्य विकास और विशेष विकास। बी.ए., एम.ए. कर लिया तो मानना चाहिए—सामान्य विकास है। यदि गहरा अध्ययन करे, शोधपूर्ण कार्य करे तो मानना चाहिए—कुछ विशेष अध्ययन हुआ है। लौकिक शिक्षा में भी चलता है—पोस्ट ग्रेजुएशन कर लिया, एम. फिल. करो, फिर पीएच.डी. करो, और भी आगे कुछ करो तो वह विशेष विकास माना जाता है।

हम ध्यान दें—सामान्य भूमिका में तो सबको अच्छा होना ही चाहिए। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो विकास की विशिष्ट भूमिकाओं पर आरोहण करते हैं।

एक बार जोधपुर महाराजा के सामने समस्या आ गई—खजाना कम हो रहा है। खजाने के बिना शासन कैसे चलेगा? राज्य शासन के लिए खजाने की जरूरत है, समृद्धि की जरूरत है। वर्तमान में भी केन्द्रीय सरकार की ओर से बार-बार कहा जाता है—हमारे पास विदेशी मुद्रा का बहुत बड़ा भंडार है, खजाना है। इससे राज्य की समृद्धि होती है, विकास होता है। राजा लोग भी शासन करते थे तो उनके पास खजाना होता था। खजाना कम हुआ, चिन्ता हो गई। राजा ने सब मंत्रियों को आमंत्रित कर कहा—‘देखो, खजाना कम हो गया है, क्या करें?’

जो सामान्य गुण वाले, सतही चिन्तन और क्षमता वाले थे, उनका मत रहा—‘कर लगा दो, किसानों, व्यापारियों से कर ज्यादा लो और खजाना भर लो।’

वहां एक व्यक्ति थे ओसवाल समाज के, जो नरेश के दीवान थे। उन्होंने कहा—‘यह तो अच्छा नहीं होगा। हम कर बढ़ाएंगे तो प्रजा दुःखी बन जाएगी। इससे महंगाई भी बढ़ेगी।’ आज भी महंगाई बढ़ी है तो प्रजा दुःखी हो रही है। वह शासन भी अच्छा नहीं होता और शासक भी अच्छा नहीं होता जो प्रजा को दुःखी बनाए।

राजा ने पूछा—‘कर नहीं बढ़ाएं तो हम क्या करें?’

दीवान प्रतिभासंपन्न था। राजा से कहा—‘महाराज! खजाने का लेखा-जोखा कहां है? पुराना बही-खाता कहां है?’

पुराने बही-खाते निकाले गए, उसमें एक जगह लिखा हुआ था—यदि कभी जरूरत हो जाए तो खाटू और मकराना के बीच गड़ा हुआ धन निकाल लेना। राजा ने कहा—‘मकराना और खाटू की दूरी चालीस-पचास कि.मी. है। हम कहां-कहां खुदाई करें।’ सामान्य ज्ञान वाले सभासदों ने कहा—यह असंभव बात है।

मुख्य दीवान—‘महाराज! एक बार आपको कष्ट दूंगा। आप खड़े हो जाएं।’

राजा दीवान के अनुरोध पर खड़े हो गए।

मुख्य दीवान ने कहा—‘सिंहासन को हटाओ।’

कर्मकरों ने सिंहासन को हटाया। दीवान ने सिंहासन के नीचे के पाषाण-निर्मित भाग को देखा और कहा—‘महाराज! समस्या का समाधान हो गया।’

‘क्या हुआ समाधान?’—सबने साश्चर्य पूछा।

‘महाराज! एक ओर पत्थर लगा हुआ है मकराने का, दूसरी ओर पत्थर लगा हुआ है खाटू का। मकराने और खाटू के पत्थरों को हटाओ और खुदाई करो। खजाना मिल जाएगा।’

कर्मकरों ने दोनों पत्थरों को हटाया, खुदाई की और अपार खजाना निकल आया। दीवान ने अपने विशेष गुण का प्रयोग किया और समस्या का समाधान कर लिया।

३४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

तर्कशास्त्र में भी सामान्य गुण और विशेष गुण की चर्चा मिलती है। अमूर्तत्व आदि सामान्य गुण हैं। जीव भी अमूर्त होता है, धर्मास्तिकाय भी अमूर्त है। यह सामान्य गुण है, दोनों में मिलता है। धर्मास्तिकाय में चेतना नहीं है, जीव में चेतना है। अमूर्तत्व जीव का विशेष गुण नहीं है। वह जड़ में भी है, चेतन में भी है किन्तु चेतना जीव का विशेष गुण है। वह जीव में है, किन्तु अचेतन, जड़ में नहीं है, धर्मास्तिकाय में नहीं है।

सिद्धसेन कह रहे हैं—**सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूपं**—आपके सामान्य गुणों का वर्णन करने में भी मेरे जैसे अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति को कठिनाई हो रही है। मैं आपके विशेष गुणों की व्याख्या करने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ?

स्वामिन्! मेरे मन में इच्छा पैदा हुई और संकल्प कर लिया कि मुझे इतना बड़ा मकान बनाना है। कुछ सामग्री भी मंगा ली। अब सोचता हूँ कि मुझे बहुमंजिला मकान बनाना है, पास में शक्ति कितनी कम है, पैसा कितना कम है। कैसे होगा? चिन्तन भी दो प्रकार का होता है—प्राक् चिन्तन और उत्तर चिन्तन। **प्राक् चिन्तन**—एक चिन्तन कार्य शुरू करने से पहले होता है। **उत्तर चिन्तन**—एक चिन्तन कार्य शुरू करने के बाद होता है।

सिद्धसेन ने सोचा—‘मैंने स्तवन शुरू तो कर दिया। मेरे पास इतनी शक्ति नहीं है, मैं कैसे करूँगा? आचार्य सिद्धसेन भी उलझन में पड़ गए—अब मैं क्या करूँ?’

कवि उपमा को बहुत काम में लेता है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में उपमा एक अलंकार है। उपमा का सामान्य अर्थ है तुलना करना। आचार्य की स्थिति कैसी बन गई, इसे उपमा के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है—**धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धः**—कौशिक शिशु, उल्लू का बच्चा बहुत होशियार है। पशु-पक्षियों में भी कुछ पशु-पक्षी बहुत चतुर होते हैं। उल्लू भी बहुत चतुर होता है। कोयल भी अपनी जाति में होशियार मानी जाती है। यह न मानें कि केवल मनुष्य ही होशियार होता है। संस्कृत भाषाकोश में कोकिल का एक नाम है परभृतः। इसका तात्पर्य है—कोयल अपने अण्डे की सेवना स्वयं नहीं करती। कोयल अण्डा देती है और अपने अण्डे को कौए के घोंसले में रख देती है। कौआ उसका पालन करता है। जब बच्चा पैदा होता है तब समान-सा लगता है पर जब बड़ा होता है तब कोयल बनकर उड़ जाता है।

प्रश्न है सामर्थ्य का ३५

इसलिए कोयल का नाम ही हो गया—परभृतः। जैसे कुछ माताएं अपने बच्चों का पालन स्वयं नहीं करती। उनका पालन हॉस्पिटल में होता है अथवा धाय माताएं करती हैं। जो बड़े लोग होते हैं, वे अपने बच्चों को 'आया' के भरोसे रखते हैं। जिन बच्चों का मां ने पालन नहीं किया, जिन्होंने मां का दूध नहीं पीया, जिन्हें मां का वात्सल्य नहीं मिला, वे बच्चे परभृत होते हैं। कोयल भी स्वयं बच्चे का पालन नहीं करती, उसे कौए के नीड़ में रख देती है।

कवि सिद्धसेन कह रहे हैं—**धृष्टोपि कौशिकशिशुः**—उल्लू का बच्चा धृष्ट है। आचार्य ने बहुत स्पष्टता से अपनी बात रख दी। धृष्ट का अर्थ ढीठा किया जाता है पर यह सही नहीं है।

धृष्ट शब्द के अनेक अर्थ हैं—प्रगल्भ, साहसिक, चतुर। प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ है होशियार। उल्लू का बच्चा होशियार होने पर भी दिवांध है, वह दिन में देख नहीं सकता, सूरज को देख नहीं सकता।

एक प्रश्न आचार्य ने उपस्थित कर दिया—प्रभो! मैं बिना मतलब उलझ रहा हूं। मुझे उलझने की जरूरत नहीं है। मैं इस सचाई को जानता हूं कि एक केवली भी आपके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता तो फिर मैं क्यों उलझूं? जितना शक्य होगा उतना करने का प्रयत्न करूंगा।

जिसने कभी सूर्य को नहीं देखा, सूर्य की रश्मियों को नहीं देखा, सूर्य के प्रकाश को नहीं देखा, वह उल्लूक का शिशु कहे कि आओ, बैठो, मैं तुम्हें सूर्य के बारे में सब बताऊंगा, सूर्य की रश्मियों का, सूर्य के प्रकाश का वर्णन करूंगा तो कैसा विचित्र लगेगा? यह आश्चर्यजनक बात लगती है। जो दिवांध है, जिसने कभी सूरज को देखा नहीं वह सूर्य के संदर्भ में कैसे कहेगा? आचार्य कहते हैं—यदि वह उल्लूक का शिशु सूर्य का वर्णन कर सके, तो प्रभो! मैं आपके सामान्य स्वरूप का वर्णन कर सकता हूं। यथार्थता यह है कि न तो वह वर्णन कर सकता है और न ही मैं कर सकता हूं, कोई भी नहीं कर सकता।

प्रभो! मैं अनभिज्ञ नहीं हूं। सब कुछ जानता हूं पर मेरी स्थिति भी उस उल्लू के बच्चे जैसी हो गई। जब मैं देखता हूं तो मुझे पता ही नहीं चलता कि आपमें कितने गुण हैं। मैं आपके सारे गुणों को देख नहीं सकता। वे सामने भी नहीं आ रहे हैं। मैं उनका क्या वर्णन करूं? कैसे स्तवना करूं? यह बहुत बड़ी समस्या मेरे सामने है।

३६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

प्रश्न हो सकता है कि पहले संकल्प कर लिया फिर यह विकल्प क्यों उठा? पहले सोच-समझकर संकल्प करना चाहिए। संकल्प कर लिया तो फिर विकल्प क्यों? यद्यपि चिन्तनपूर्वक संकल्प किया है फिर भी विकल्प का अवकाश रह सकता है। जहां मानसिक तरंग है, विकल्प उठते रहते हैं। हर चीज के साथ उठते हैं। उनसे संकल्प त्रुटित नहीं हुआ है। संकल्प की पूर्ति में जो समस्याएं सामने आ रही हैं, उन पर विचार किया जा रहा है।

यह संकल्प के प्रति संदेह नहीं है, संशय नहीं है। यह दृढ़ निश्चय है। निश्चय की क्रियान्विति से पूर्व व्यक्ति अपनी क्षमता और स्थिति का आकलन करता है। आचार्य सिद्धसेन इसी भाषा में सोच रहे हैं कि मेरी क्षमता क्या है? मैं कितना कर पाऊंगा और कैसे कर पाऊंगा?

समझदार आदमी उलझन को भी सुलझा लेता है और जहां भी भटकता है, वहां कोई न कोई रास्ता निकाल लेता है। इस उलझन से आचार्य क्या रास्ता निकालते हैं, स्तुति को कैसे आगे बढ़ाते हैं?

४. सफलता की आधार-भूमि

व्यक्ति कार्यारंभ करता है तो उसे काफी चिन्तन करना होता है। सिद्धसेन ने संकल्प कर लिया। संकल्प की सिद्धि के लिए काफी चिन्तन की आवश्यकता होती है। उन्होंने शुभ मुहूर्त देखा या नहीं, मुझे पता नहीं। लाडनूं में यह घोषणा हो गई—हमें श्रीडूंगरगढ़ जाना है। यात्रा की योजना का सारा दायित्व महाश्रमण पर है। इन्होंने अनेक ज्योतिषियों से पता किया होगा कि कौनसा दिन अच्छा रहेगा। सिद्धसेन ने दिन अच्छा देखा या नहीं, इसका उल्लेख नहीं मिलता। यदि मुहूर्त देखते तो शायद इतना सोचना नहीं पड़ता।

उनके सामने प्रश्न है—मैं अर्हत् पार्श्वनाथ की स्तुति करना चाहता हूं, उनके गुणों का वर्णन करना चाहता हूं, मैं कितना कर सकूंगा। शक्यता पर विचार किया तो पैर रुक गए। वे बोले—प्रभो! मैंने संकल्प से पहले चिन्तन नहीं किया, योजना नहीं बनाई, सीधा ही काम शुरू कर दिया।

आचार्य दार्शनिक दृष्टि वाले थे। उन्होंने कहा—मैं दार्शनिक दृष्टि से विचार करता हूं तो मेरे सामने समस्या आती है। वह समस्या यह है—मेरा ज्ञान और दर्शन अनावृत नहीं है, मोह कर्म विद्यमान है। जब तक मोह विद्यमान है, तब तक कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं बन सकता। मोहनीय कर्म क्षीण होता है तब व्यक्ति सर्वज्ञ बनता है, कोई आवरण नहीं रहता। जब तक मोह विद्यमान है, किसी भी व्यक्ति का ज्ञान निरावरण नहीं होता। ज्ञान पर हमेशा पर्दा रहता है, आवरण रहता है। भारतीय समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित रही है। स्त्रियां मुंह पर पर्दा रखती हैं, पुरुष नहीं रखते। हम ज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो कोई अंतर नहीं है। स्त्रियों के मुंह पर भी पर्दा है, पुरुषों के मुंह पर भी पर्दा है। और तो क्या, साधु-साध्वियां—सबके मुंह पर पर्दा है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलता, जिसके मुंह पर पर्दा न हो। इस भाषा में भी कह दें—कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसके मस्तिष्क पर पर्दा न हो। हमारे ज्ञान का स्रोत मस्तिष्क बनता है। उस पर भी पर्दा है, आवरण है। कर्म का नाम भी बन गया—ज्ञानावरण। व्यक्ति सब कुछ देख नहीं सकता, जान नहीं सकता। कैसे

३८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

देखेगा? जब मोह क्षीण होता है, घात्य कर्म क्षीण हो जाते हैं। व्यक्ति सर्वज्ञ बन जाता है तब वह सब कुछ जान सकता है, देख सकता है।

कर्मशास्त्र के अनुसार वीतराग बनते ही बारहवां गुणस्थान आ जाता है। मोह कर्म क्षीण हो गया तो फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म टिक नहीं सकते। उन्हें टिकाने वाला कौन है? मोह कर्म के बिना घात्य कर्म टिक नहीं सकते। दशाश्रुतस्कन्ध में बतलाया गया—

**सेणावतिम्मि णिहते, जधा सेणा पणस्सती।
एवं कम्मा पणस्संति, मोहणिज्जे खयं गते।।**

सेनापति भाग गया तो फिर सेना कहां ठहरेगी? मोह कर्म सेनापति है। वह चला गया तो शेष तीन घाति कर्म अपने आप चले जाएंगे।

कर्म आठ बतलाए गए हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। वास्तव में विचार करें तो कर्मों का स्वामी है मोहनीय कर्म। शेष सब तो उसके अनुचर हैं। मूल कर्म है मोह। जिस व्यक्ति का जितना मोह प्रबल है, उतना ही वह असत्य की दिशा में जाएगा, सत्य को पकड़ नहीं पाएगा। जिस व्यक्ति का मोह जितना शान्त है, वह उतना ही सत्य को समझ सकेगा, पकड़ सकेगा। बहुत सारे विद्वान् हैं, ज्ञानी हैं, सत्य की खोज करते हैं, क्या हम यह मान लें—उनका मोह कम है? इस प्रश्न का उत्तर भी मुझे बहुत कठिन नहीं लगता। मैंने जहां तक समझा है, जो सत्य की खोज करने वाले वैज्ञानिक हैं वे एक प्रकार से उपशान्त मोह वाले होते हैं। किसी भी वैज्ञानिक के संदर्भ में मैंने ऐसा नहीं पढ़ा कि वह बहुत उत्तेजित था, क्रोध में था और सत्य की खोज कर रहा था।

महान् वैज्ञानिक आईस्टीन से पत्नी ने कहा—‘नौकर बहुत झगड़ालू है।’

आईस्टीन ने कहा—‘तुम ठीक कहती हो।’

पत्नी चली गई। नौकर आया, बोला—‘सर! मेरे साथ मैडम अच्छा व्यवहार नहीं करती। सारा दोष उसका है। मैं क्या करूं?’

आईस्टीन ने नौकर से भी यही कहा—‘तुम ठीक कहते हो।’

आईस्टीन को न पत्नी की बात सुनकर उत्तेजना आई, न नौकर की बात सुनकर उत्तेजना आई। पत्नी उबल पड़ी, बोली—‘तुम कैसे आदमी हो? मुझे भी ठीक कहते हो और नौकर को भी ठीक कहते हो?’

सफलता की आधार-भूमि ३६

आईस्टीन बहुत शांति के साथ बोला—तुम दोनों ठीक कहते हो।

ऐसा लगता है कि प्रकृति बहुत शांत थी। यदि मोह उपशांत नहीं है तो व्यक्ति सत्य की खोज नहीं कर सकता। जब मोह प्रबल होता है तब मन की गहरी एकाग्रता नहीं हो सकती। मन की गहरी एकाग्रता के बिना सत्य की खोज नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को सत्य की खोज करनी है उसे शांत-दांत होना होगा, बहुत सारी बाहरी बातों को भूलना होगा।

वैज्ञानिक न्यूटन ने बढ़ई से कहा—‘दरवाजे पर दो खिड़कियां बना दो?’

बढ़ई ने पूछा—‘सर! क्यों?’

न्यूटन—‘एक कुत्ते के आने के लिए और एक बिल्ली के आने के लिए।’

बढ़ई—‘सर! दो की क्या जरूरत है? जो कुत्ते के लिए होगी, उससे बिल्ली अपने आप आ जाएगी।’

न्यूटन—‘यह ठीक बात है। तुम एक ही खिड़की बना दो।’

सत्य-शोधक का बाहरी बातों के प्रति बहुत ध्यान नहीं होता। जिसका बाहरी बातों के प्रति ध्यान ज्यादा होता है वह सत्य की खोज नहीं कर सकता। चाहे वैज्ञानिक हो, साधना करने वाला साधक हो, जिसे सत्य की खोज करनी है उसके लिए मोह को शांत करना जरूरी है। कषाय शांत—क्रोध शांत, अहंकार शांत, छल-कपट की प्रवृत्ति शांत, लोभ शांत, कामवासना शांत। ये सब शांत होते हैं तब ही कोई सत्य की खोज कर सकता है।

आचार्य ने बहुत दार्शनिक महत्त्व की चर्चा कर दी—**मोहक्षया-दनुभवन्नपि**—प्रभो! जिसका मोह क्षय हो गया, केवली बन गया, सर्वज्ञ बन गया, वह व्यक्ति आपके गुणों को जानता है, आपकी विशेषताओं को जानता है किन्तु उनका विश्लेषण नहीं कर सकता। एक द्रव्य के अनंत पर्याय होते हैं। केवलज्ञानी उन अनंत पर्यायों को जानता है। **सर्वं जाणई सर्वं पासई**—केवली सब द्रव्यों और पर्यायों को जानता-देखता है, किन्तु वह भी आपके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता।

बड़ी विषम बात कह दी—जानता है फिर भी वर्णन नहीं कर सकता। यहां भी एक दार्शनिक तथ्य ज्ञातव्य है—कहना और जानना—दो बात है। जानना ज्ञान का काम है। कहना नाम कर्म से संबंध रखता है। हमारा शरीर, स्वरयंत्र और काल—समय। समय आखिर कितना है? कोई व्यक्ति सौ वर्ष जीता है। पुराने युग की बात करें तो एक पल्लोपम जीता है। काल तो आखिर सीमित

४० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

है। काल सीमित, शरीर की शक्ति भी सीमित। स्वर-यंत्र कितना काम करेगा, कब तक बोलेगा? यदि निरंतर बोलता जाएगा तो समस्या पैदा हो जाएगी। जो ज्यादा बोलता है, उसके मस्तिष्क की ऊर्जा कम होती है। जो कम बोलता है उसका मस्तिष्क ठीक काम करता है। जो ज्यादा बोलता है उसकी ऊर्जा बोलने में खप जाती है फिर मस्तिष्क को पर्याप्त ऊर्जा नहीं मिलती। इसीलिए कहा गया—ज्यादा मत बोलो, वाणी का संयम करो। वस्तुतः मौन का मतलब ठीक समझा नहीं जा रहा है। घंटा, दो घंटा मौन किया और पूरे दिन में उसकी कसर निकाल दी—यह मौन का मतलब नहीं है। मौन का मतलब है—वाणी का संयम, वचन की गुप्ति, अनावश्यक न बोलना। जो व्यक्ति अनावश्यक नहीं बोलता वह सबसे बढ़िया मौन करता है। आवश्यकता हो, तभी बोलें। जब जरूरत हो तब एक-दो शब्द कह दिया। अनावश्यक न बोलना, मैं इसे मौन मानता हूँ। उतना ही बोलें, जितना आवश्यक है।

मैंने गुरुदेव को देखा, कालूगणी को देखा, अनेक साधु-साध्वियों को देखा—वाणी का बड़ा संयम था, बहुत कम बोलते। इसीलिए उनकी ऊर्जा कम खर्च होती। जो दिन भर बोलता रहता है, अनावश्यक बोलता है, उसकी मस्तिष्कीय शक्ति भी कम हो जाती है।

आचार्य ने कहा—केवली सब गुणों को जानने वाला है, पर बोलना तो केवलज्ञानी का काम नहीं है। बोलना तो शरीर का, स्वरयंत्र का और वाणी का काम है। कितना बोलेगा, बोल नहीं सकेगा।

पणवणिज्जा भावा अणंतभागो तु अणभिलप्पाणं।

पणवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुतणिबद्धो॥

कहा गया—प्रज्ञापनीय भाव हैं अनंत और वक्तव्य है एक बिन्दु जितना। प्रज्ञापनीय भाव है समुद्र और वक्तव्य है एक बूंद। सत्य है एक समुद्र जितना और वक्तव्य है एक बिन्दु जितना। इसीलिए जो भिन्न-भिन्न दर्शन हैं, भिन्न-भिन्न मत हैं, भिन्न-भिन्न विचारधाराएं हैं, उनको पूर्ण सत्य मानने का आग्रह न करें। अनेकांत दर्शन कहता है—तुम यह आग्रह मत करो कि तुम कहते हो वही सत्य है। दूसरा जो कहता है वह झूठ है, सत्य नहीं है—ऐसा भी आग्रह मत करो। व्यक्ति ने एक पक्ष को समझा और एक बात कह दी। पूरी बात उसकी भी नहीं है और पूरी बात तुम भी नहीं कह सकते। तुम पूरी बात कैसे कह सकते हो? न कोई जैन पूरी बात बता सकता, न कोई बौद्ध पूरी बात बता सकता, न कोई वैदिक पूरी बात बता सकता, न इस्लाम और ईसाई धर्म का अनुयायी

सफलता की आधार-भूमि ४१

पूरी बात कह सकता। सब बताएंगे एक-एक पक्ष। एक-एक विषय को पकड़ा, प्रतिपादन किया और जितना किया वह एक बूंद जितना है। प्रज्ञापनीय भाव है समुद्र जितना, कैसे पार पा सकेंगे?

तत्त्व दो प्रकार के होते हैं—अभिलाष्य और अनभिलाष्य। अभिलाष्य, जो कहा जा सकता है, शब्दों का विषय बन सकता है। दूसरा है अनभिलाष्य, जो कहा नहीं जा सकता। हर वस्तु में अनन्त पर्याय होते हैं। स्थूल पर्यायों को कहा जा सकता है, सूक्ष्म पर्यायों को नहीं कहा जा सकता। उसके लिए कोई शब्द भी नहीं है। तुलना करें—गुण अनन्त हैं, पर्याय अनन्त हैं और शब्द बहुत सीमित हैं। शब्दों के संयोग से वे काफी हो जाते हैं फिर भी अनभिलाष्य, अनन्त पर्याय को, सूक्ष्म पर्याय को कहा नहीं जा सकता। अभिलाष्य भावों में भी कुछ भावों को कहा जा सकता है, कुछ भावों को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। इसलिए कि शब्दों की सीमा है, समय की सीमा है, आयु की सीमा है। एक व्यक्ति सौ वर्ष तक जीता है। वह अनन्त गुणों का वर्णन करना शुरू करता है। एक दिन में मान लो दस-बीस हजार भावों का वर्णन कर दिया तो सौ वर्ष में कहां तक पहुंच पाएगा। अनन्त का तो प्रश्न ही नहीं है, असंख्यात तक भी नहीं पहुंच सकता। क्योंकि अभिलाष्य बहुत थोड़ा है। इसीलिए यह कहा गया—केवली में भी शक्ति नहीं है कि वह सब कुछ कह सके।

आगम के बारे में हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट रहे। सत्य अनन्त है, उसका थोड़ा सा हिस्सा लिखा हुआ है। निर्युक्तिकारों ने बहुत स्पष्ट किया है कि वह हाथी जितना नहीं, हाथी की पूंछ जितना भी नहीं लिखा हुआ है। समुद्र जितना नहीं, बूंद जितना भी नहीं लिखा गया है। सत्य तो अनन्त है और उसे खोजने का अनन्त अवकाश है। इसीलिए कहा गया—‘अप्पणा सच्चमेसेज्जा’—स्वयं सत्य खोजो। अगर आप सोचें कि सच तो हमारे पूर्वजों ने खोज लिया। जो अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी थे, उन्होंने खोज लिया। अब हमें क्या खोजना है? उन्होंने जो खोजा है उसमें भी बहुत बचा हुआ है। खोज लिया होगा, पर कहा नहीं होगा। वे कह भी नहीं सकते थे।

इस तथ्य से आचार्य को एक सहारा मिल गया। वे बोले—भगवन्! आपके गुणों का वर्णन जब केवली भी नहीं कर सकता तो मुझे डरने की जरूरत ही क्या है? मैं क्यों कमजोर बनता हूँ? क्यों विकल्प करता हूँ? मैं सब गुणों का वर्णन नहीं कर सकता फिर भी मुझे लोग दोष नहीं देंगे। एक केवली आपके विशिष्ट गुणों को जानता हुआ भी कह नहीं सकता तब लोग

मुझ पर क्यों हंसेंगे। जब जानने वाला नहीं कह सकता तब जो नहीं जानता, वह कैसे कह सकता है?

आचार्य सिद्धसेन ने इस दार्शनिक सचाई को बहुत सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है—प्रभो! मुझे एक आश्वासन मिल गया। अब मैं आपके गुणों का वर्णन नहीं कर सकूंगा तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। यदि यह होता कि अमुक कर सकता है और मैं नहीं कर सकता तो मुझमें हीनभावना पैदा हो जाती। मैं देखता हूँ—एक सर्वज्ञ भी आपके सारे गुणों का वर्णन नहीं कर सकता फिर मैं न कर सकूँ तो यह कौन-सी नई बात है। मुझे हीनभावना में जाने की जरूरत नहीं है।

आचार्य इसी बात को एक उपमा के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। कवि उपमा के बिना संतुष्ट नहीं होता। आचार्य तुलसी अनुप्रास के बिना संतुष्ट नहीं होते थे। वे कविहृदय थे। जहां अनुप्रास नहीं मिलता, गुरुदेव को अच्छा नहीं लगता। वही काव्य अच्छा लगता, वही गीत अच्छा लगता, जहां शब्द-रचना में अनुप्रास की झड़ होती। वे अपनी रचनाओं में अनुप्रास का प्रयोग करते थे। काव्यशास्त्र में कहा गया—काव्य उपमा से अलंकृत नहीं होता है तो बात अच्छी तरह से कही नहीं जा सकती। आचार्य ने भी उपमा का सहारा लिया—मैं दुनिया को देखता हूँ। पृथ्वी को देखता हूँ। समुद्र को भी देखता हूँ। समुद्र का नाम है रत्नराशि। वहां रत्नों का भंडार भरा है। हमें रत्न दिखाई नहीं देते। समुद्र के रत्नों को वही पा सकता है जो डुबकी लगाना जानता है। जो गोताखोर हैं, डुबकी लगाना जानते हैं, वे समुद्र में से रत्न निकाल लेते हैं।

सामान्य तूफान समुद्र में आते रहते हैं किन्तु जब प्रलय का तूफान आता है तब सारा पानी भूमि पर आ जाता है। चारों तरफ पानी फैल जाता है, भूमि डूब जाती है। बड़ी भयंकर स्थिति बनती है। कुछ वर्ष पूर्व ओडिशा में तूफान आया, आंध्रप्रदेश में तूफान आया। बड़ी भयंकर स्थिति बन गई। लाखों आदमी बेघर-बार हो गए। अरबों-खरबों रुपयों का नुकसान हो गया। यह सामान्य तूफान की स्थिति है। किन्तु प्रलयकाल का पवन बड़ा विचित्र होता है। वह समुद्र के पानी को इतना दूर फेंक देता है कि समुद्र खाली हो जाता है। जहां स्थल है, वहां समुद्र बन जाता है। इतिहास को पढ़ने वाले जानते हैं—जहां आज रेगिस्तान, रेतीले टीले हैं वहां कभी समुद्र था। यह जल और स्थल का परिवर्तन होता रहता है। जहां स्थल है, वहां समुद्र बन जाता है। जहां समुद्र है, वहां स्थल बन जाता है। प्रलयकाल में तो इतना परिवर्तन होता है कि न

सफलता की आधार-भूमि ४३

पहाड़ का पता, न समुद्र का पता, न स्थल भूभाग का पता। जब प्रलयकाल की हवा चलती है, प्रबलतम वेग से वायु का झोंका आता है तब क्या होता है, इसे समुद्र के तट पर रहने वाले जानते हैं।

कवि ने कहा—‘प्रभो! प्रलयकाल की हवा चली, उसने समुद्र का पानी फेंक दिया, समुद्र खाली हो गया। जितनी संपत्ति पृथ्वी पर है उससे कई गुना संपत्ति समुद्र में है। समुद्र का एक नाम है रत्नाकर, रत्नों की खान। जब पानी चला गया तो चारों तरफ रत्न ही रत्न दिखाई देने लगे।

आचार्य सिद्धसेन इस स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—प्रभो! क्या कोई व्यक्ति अनगिन बिखरे हुए उन रत्नों की गिनती कर सकता है? नहीं। जो अमाप्य हैं, अगम्य हैं, असंख्य हैं, जिनकी संख्या नहीं की जा सकती, जिनको मापा नहीं जा सकता, अगर उन्हें कोई गिन नहीं पाए तो वह उसकी कमजोरी नहीं है। प्रभो! मेरे स्तोत्र को पढ़ने वाले विद्वान् व्यक्ति इस यथार्थ को समझेंगे। वे मुझे दोष नहीं देंगे। जब असंख्य हैं तो भला उनकी संख्या कौन कर पाएगा? कौन गिन पाएगा? स्तोत्र-पाठको! मैं अपनी असमर्थता बता देता हूँ कि मेरे सामने असंख्य गुण हैं। मैं उनकी गणना नहीं कर सकता।

आचार्य कहते हैं—प्रभो! एक बार तो मैं ठिठक रहा था, पैर रुक रहे थे। इतना बड़ा संकल्प कर लिया, मैं कैसे पूरा करूँगा पर अब मुझे एक आश्वासन मिल गया। कोई मुझे कहेगा कि आपने स्तुति का संकल्प किया पर किया क्या? तो मैं कह दूँगा—केवली ने क्या किया? पूरा वे भी बता नहीं सके और पूरा मैं भी नहीं बता सकता। दोनों की बात समान हो गई। हीनभावना की कोई आवश्यकता नहीं है। इस चिन्तन से संकल्प को बल मिल गया।

व्यक्ति कोई काम शुरू करता है तो विकल्प उठते हैं और इतने विकल्प उठते हैं कि कल्पना नहीं की जा सकती। सामान्य आदमी रसोई बनाने बैठता है तो विकल्प उठ जाते हैं। व्यापार करता है तो भी अनेक विकल्प उठ जाते हैं।

मेरे पास एक व्यक्ति आया, बोला—‘क्या करूँ? एक समस्या है।’

मैंने पूछा—‘समस्या क्या है?’

वह बोला—‘कभी सोचता हूँ कपड़े का काम करूँ। दूसरा विकल्प आता है—अनाज का काम करूँ। थोड़ी देर बाद विकल्प आता है कि जवाहिरात का काम अच्छा है। कभी विकल्प आता है—कोई फैक्ट्री लगानी चाहिए। इतने विकल्प आते हैं कि मैं कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ।’

४४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

मैंने कहा—एक विकल्प बहुत है। संकल्प और विकल्प से सारा संसार चल रहा है। आखिर निर्णय करना पड़ता है। तुम सिद्धसेन की तरह बन जाओ। जो संकल्प कर लो, उस पर स्थिर रहो तो सफलता के साथ आगे बढ़ सकोगे।

तीसरे-चौथे श्लोक में आचार्य ने अपने संकल्प की प्रस्तुति के साथ आने वाली समस्याओं का भी वर्णन कर दिया। हर आदमी संकल्प करता है कि मैं ब्रह्मचारी रहूंगा, मैं अपरिग्रही रहूंगा, मैं अहिंसक रहूंगा। संकल्प के बाद जो समस्याएं आती हैं अगर उन पर ध्यान नहीं दिया जाए, उनका समाधान नहीं खोजा जाए तो सफल नहीं हो सकते। वही संकल्प सफल हो सकता है जिसमें आने वाली समस्याओं पर विचार करने का अवकाश रहता है और उनके समाधान का प्रयत्न होता है।

आचार्य के सामने पहली समस्या थी वर्णन की। इसलिए पहले ही स्पष्ट कर दिया कि मैं आपके स्वरूप का पूरा वर्णन नहीं कर सकता। दूसरी समस्या थी गुणों की गणना की। आचार्य ने कहा—आपमें अनन्त गुण हैं। मैं आपके गुणों की गणना नहीं कर सकता। न वर्णन की समस्या और न गणना की समस्या।

सिद्धसेन ने बहुत गहराई से विश्लेषण किया है। क्या कोई कह सकता है कि मैं कोलकाता जाकर आया हूँ, लंदन और न्यूयार्क जाकर आया हूँ इसलिए उसका पूरा वर्णन कर दूंगा? पूरा वर्णन कोई नहीं कर सकता। स्थूल बातें बता सकता है पूरा वर्णन नहीं कर सकता। गणना की स्थिति भी यही है। आदमी का दिमाग बहुत तेज है। वह बहुत गणना कर सकता है। सुपर कंप्यूटर भी गणना कर सकता है। यदि उसे कहा जाए अनन्त की, असंख्य की गणना करो, वहां कंप्यूटर भी मौन है, आदमी का दिमाग भी मौन है। असंख्य की गणना कभी नहीं की जा सकती।

आचार्य सिद्धसेन ने अपनी कमी का एहसास किया, अपना हृदय खोल कर रख दिया। कल्याण मंदिर का पाठ करते समय आचार्य की भावना का आदर करें और उस गहराई तक पहुंचने का प्रयत्न करें जिस गहराई में जाकर आचार्य ने स्तुति करने का संकल्प लिया है।

आखिर एक संकल्प पर आदमी को दृढ़ होना होता है। जो एक संकल्प पर दृढ़ नहीं होता—आज कुछ संकल्प, कल कुछ संकल्प—वह कभी सफल नहीं होता। संकल्प में उलझनें आती हैं, विकल्प आते हैं। जो उनको पार कर

सफलता की आधार-भूमि ४५

दृढ़ निश्चय कर लेता है कि मुझे यह काम करना है, वह सफल हो जाता है।
आचार्य सिद्धसेन ने स्तुति का जो संकल्प किया उसमें अनेक विकल्प और
उलझनें आईं, किन्तु उनसे मुक्त बन कर यह निश्चय कर लिया कि मैं स्तुति
करूंगा। यह निश्चय सफलता की आधारभूमि बन गया।

५. एक समस्या : एक समाधान

तीर्थकर की स्तुति करना छोटा काम नहीं है, बहुत बड़ा काम है। जब कोई बहुत बड़ा काम सामने होता है तब अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। संकल्प-विकल्प का जाल उसी अन्तर्द्वन्द्व के धागों से बुना जाता है। आचार्य सिद्धसेन के मन में अन्तर्द्वन्द्व हो रहा था, संकल्प-विकल्प का चक्र चल रहा था। पांचवें श्लोक की संरचना के साथ सिद्धसेन संकल्प-विकल्पों के जाल से मुक्त होकर स्तुति की तैयारी में लग गए। उन्होंने मनोबल को बटोरा, बोले—

अभ्युद्यतोस्मि तव नाथ!—प्रभो! मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हो रहा हूँ, खड़ा हो रहा हूँ, सावधान हो रहा हूँ। मैं मानता हूँ—**जडाशयोऽपि**—मैं जडाशय—जड़-आशय वाला हूँ। मेरा आशय प्रबुद्ध नहीं है। **आशय—आशेते चैतन्यं यत्र**—जहाँ चैतन्य नहीं होता, वह आशय बन जाता है। पक्वाशय, गर्भाशय आदि सब आशय हैं। आशय अर्थात् अन्तःकरण का वह स्थान, जहाँ जड़ता है, चैतन्य की जागृति नहीं है।

पानी की दो अवस्थाएं होती हैं—तरल अवस्था और ठोस अवस्था। जल तरल अवस्था है। बर्फ ठोस अवस्था है। आचार्य कह रहे हैं—मेरी चेतना जागृत नहीं है, अभी शिक्षित नहीं हुई है। उसमें जड़ता है, अज्ञान है फिर भी मैं स्तुति करने का साहस बटोर रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि यह काम दुःसाध्य है। इसलिए दुःसाध्य है कि मैं किसी साधारण आदमी की स्तुति नहीं कर रहा हूँ। मैं किसी छोटी पहाड़ी पर आरोहण नहीं कर रहा हूँ। मैंने हिमालय की चोटी पर, एवरेस्ट की चोटी पर आरोहण करने का संकल्प कर लिया है। मेवाड़ में हमने अनेक छोटी पहाड़ियां देखी हैं। छोटे-छोटे बरसाती नाले देखे हैं। स्तुतिकार को नदी-नालों को पार नहीं करना है, लघु पहाड़ नहीं चढ़ना है, सर्वोन्नत शिखर पर चढ़ना है।

एक सामान्य आदमी की स्तुति करनी होती है तो कहा जाता है कि वह आदमी बहुत विनम्र है, उसका व्यवहार बहुत मधुर है। कोई व्यक्ति किसी की चार-पांच, दस-बीस और ज्यादा से ज्यादा पचास विशेषताएं बता दे,

एक समस्या : एक समाधान ४७

इससे ज्यादा नहीं बता सकता। आचार्य सिद्धसेन भगवान् पार्श्व के व्यक्तित्व की विराट्ता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—**कर्तुं स्तवं लसदसंख्य-गुणाकरस्य**—मैं उनकी स्तवना कर रहा हूँ जिनमें असंख्य गुण हैं और जो असंख्य गुणों का आकर बना हुआ है, गुणों का समुद्र है, गुणों की खान है। वे गुण भी साधारण नहीं हैं, **लसत्**—दीप्तिमान हैं।

एक ओर उस महान् आत्मा की स्तुति करने का इतना बड़ा काम हाथ में ले लिया जिनकी विशेषताएं असंख्य हैं, दूसरी ओर आचार्य कह रहे हैं—मैं जडाशय हूँ। संस्कृत में एक अलंकार है विरोधाभास अलंकार, जो विरोध दिखलाता है। स्तुति करने वाले का चैतन्य जागृत नहीं है और असंख्य गुणों की स्तुति करने का संकल्प है। इनमें स्पष्ट रूप से विरोध दिखाई दे रहा है।

एक बार थोड़ी निराशा-सी आ गई। संकल्प कमजोर होता प्रतीत हुआ। संकल्प कमजोर होता है तो आदमी थोड़ा-सा कठिन काम आने पर भी हार मान लेता है किन्तु जिसका संकल्प मजबूत होता है, वह बड़ी से बड़ी कठिनाई आने पर भी हार नहीं मानता।

आचार्य ने कहा—ऐसे दीप्तिमान संख्यातीत गुणों के आकर भगवान् पार्श्वनाथ का स्तवन कर रहा हूँ। कितना बड़ा भार, कितना बड़ा बोझ मैं सिर पर उठा रहा हूँ। यह काम बहुत बड़ा है और मैं छोटा हूँ। पर मैं देखता हूँ कि एक बच्चा भी अपनी भुजाओं को फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन कर देता है।

एक बच्चे से किसी ने पूछा—तुम अभी समुद्र की यात्रा करके आये हो। समुद्र कितना बड़ा है? वह अपनी भुजाओं को फैला कर कहता है—इतना बड़ा है समुद्र।

**बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः॥**

एक बच्चा भी अपनी भुजाओं को फैलाकर समुद्र की विशालता को बता देता है। मैं भी तो आपके सामने एक बच्चा हूँ। कोई मुझे पूछेगा—पार्श्व की स्तुति कर रहे हो? क्या तुम जानते हो पार्श्व का व्यक्तित्व कितना विशाल और विराट् है? तो मैं भी अपनी भुजाओं को फैलाकर कह दूंगा—इतना विशाल और विराट् है पार्श्व का व्यक्तित्व।

४८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

छोटा बच्चा भी अपनी मति के अनुसार समुद्र की विशालता को बता देता है, आकाश की विशालता का मापन कर लेता है तो फिर मुझे क्या चिंता है? प्रबुद्ध लोग यही समझ लेंगे कि यह बालक है। वे मुझे शिशु समझ कर क्षमा कर देंगे। यदि कोई उनसे पूछेगा कि इतना बड़ा काम क्यों शुरू किया तो वे स्वयं कहेंगे—बच्चा है, बालसुलभ चपलता कर रहा है।

जहां भी उलझन होती है, आदमी समाधान खोजता है। सिद्धसेन ने भी उलझन को सुलझाने का पथ खोज लिया। जब बच्चा और समुद्र सामने आ गया तो समाधान हो गया। उन्होंने सोचा—बच्चा तो ऐसा करता ही है। कोई कुछ कहेगा तो मेरा शैशव सामने आयेगा। लोग समझ लेंगे—यह एक बालक है। बालक के मन में एक उदग्र भावना जागृत हो गई और उसने एक अमाप्य समुद्र को मापने का प्रयत्न कर लिया इसलिए मुझे अब स्तुति के लिए उद्यत होने में कोई कठिनाई नहीं है।

चिंतन की एक प्रक्रिया है। आदमी सोचता है, संकल्प करता है, फिर विकल्प उभरता है। विकल्पों की भी बड़ी समस्या है। एक के बाद एक विकल्प आता रहता है, किन्तु सिद्धसेन विकल्पों से मुक्त होकर स्तुति करने के लिए उद्यत हो गए। अब उन्हें अपने सामने प्रकाश दिखाई दे रहा है। उनमें नए विश्वास और नव ऊर्जा का संचार हो गया।

६. विकल्प का तमस : संकल्प की दीपशिखा

आचार्य सिद्धसेन के मन में अभी विकल्पों का तांता विच्छिन्न नहीं हो रहा है। एक निर्णय करते हैं फिर संदेह उभर आता है, विकल्प आ जाता है। एक विकल्प समाप्त हुआ और एक नया विकल्प प्रस्तुत हो गया।

सिद्धसेन के मस्तिष्क में एक विकल्प आया—स्तुति से पूर्व एक प्रश्न पर मुझे और विचार कर लेना चाहिए। अर्हत् पार्श्व की स्तुति क्या कोई योगी भी कर सकता है?

साधना के क्षेत्र में योगी शब्द लब्धप्रतिष्ठ है, बहुत महत्वपूर्ण है। मुनि या साधु होना एक सामान्य भूमिका है, योगी होना विशिष्ट भूमिका है। योगी वह है जिसने एकाग्रता को सिद्ध कर लिया। योगी वह है जिसका तीसरा नेत्र खुल गया, अतीन्द्रिय चेतना जाग्रत् हो गई। योगी वह है जिसने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान प्राप्त कर लिया। जो योगी है वह प्रत्यक्षदर्शी भी है, ज्ञानी भी है, एकाग्र भी है।

प्रश्न उपस्थित हुआ—क्या योगी भी अर्हत् पार्श्व या तीर्थकर के गुणों का व्याख्यान करने में समर्थ हैं? आचार्य ने चिंतन किया और उत्तर में कहा—योगी भी समर्थ नहीं हैं। वे भी आपके स्वरूप का पूरा वर्णन नहीं कर सकते। मैं तो योगी नहीं हूँ। मन चंचल है, एकाग्र नहीं है। तीसरा नेत्र भी नहीं खुला है, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान भी प्राप्त नहीं है, जिससे मैं सूक्ष्मता से उन गुणों को देख सकूँ और जनता के सामने रख सकूँ।

अर्हत् की स्तुति का मेरे लिए अवकाश कहां है? वस्तु वहां रखी जाती है जहां अवकाश हो। अगर अवकाश ही न हो तो कहां रखी जाएगी? आचार्य चिन्तन कर रहे हैं कि मेरा अवकाश कहां है? मेरा स्थान कहां आता है? चिंतन की गहराई में चले गए, सोचा—क्या करूँ? क्या यह मेरी असमीक्ष्यकारिता नहीं है?

ये योगिनामपि न यान्ति गुणाः—योगी भी जिसके गुणों को प्राप्त नहीं कर सकते, जिसके गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं होते। **वक्तुं कथं**

५० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

भवति तेषु ममावकाशः—वहां मेरा अवकाश कहां होगा? मुझे स्थान कहां मिलेगा? जहां योगी भी असमर्थता प्रकट करते हैं वहां मैं कैसे समर्थ बनूंगा? सिद्धसेन ने 'योगी' शब्द का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है।

योग का अर्थ है मोक्ष का उपाय। जैन दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र मोक्ष के उपाय हैं। इन तीनों को रत्नत्रयी के रूप में जाना जाता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र—ये तीन रत्न हैं। दुनिया में रत्नों की कमी नहीं है। लोग मानते हैं कि हीरा, पन्ना, माणिक—ये रत्न हैं। ये वास्तव में रत्न नहीं हैं। संस्कृतकोश में इनका नाम है—मणि।

सिकन्दर विश्व-विजय की यात्रा पर था। वह ऐसे नगर में पहुंचा जहां केवल महिलाएं ही थीं। कोई पुरुष नहीं था। सिकन्दर का महिलाओं ने स्वागत किया।

सिकन्दर बोला—'मैं भूखा हूं। मुझे भोजन करना है।'

महिलाओं ने भोजन का आग्रह किया। सिकन्दर एक घर में गया। उसने देखा—पट्ट बिछा है, थाली रखी हुई है और उसके ऊपर मखमली कपड़ा है। सोचा—बहुत अच्छा भोजन होगा। उसने मखमल का कपड़ा उठाया। वह देख कर स्तब्ध रह गया—थाली में हीरा, पन्ना, माणिक, मोती हैं पर रोटी नहीं है। सिकन्दर ने कहा—'बहनो! यह क्या मजाक किया है? मुझे तो भूख लग रही है। मुझे चाहिए—रोटी-शाक। तुमने ये सब क्या रखे हैं?'

'राजन्! आपको तो धन चाहिए। रोटी कहां चाहिए? आप धन-संपत्ति के लिए ही तो लोगों को मार रहे हैं। रोटी तो आपको अपने गांव में ही मिल जाती। उसके लिए नरसंहार की कहां जरूरत है?'

सिकन्दर यह सुनकर अवाक् रह गया। इस मर्मवेधी वाक्य ने उसके दिल को बदल दिया। उसने यात्रा बंद की और अपने देश चला गया।

संस्कृत साहित्य में तीन प्रकार के रत्नों की चर्चा मिलती है—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।

मूढैः पाषाणखंडेषु, रत्नसंज्ञाऽभिधीयते॥

हमारी दुनिया में तीन रत्न हैं—जल, अन्न और सुभाषित। सोना, चांदी—ये सब मणि हैं, रत्न नहीं हैं। कवि कह रहा है—मूढ और अज्ञानी लोग इन पाषाण-खंडों—पत्थर के टुकड़ों को रत्न मानते हैं। उनसे होगा क्या? घर में

विकल्प का तमस : संकल्प की दीपशिखा ५१

बहुत रत्न पड़े हैं। यदि पीने का पानी नहीं मिला, प्यासा बैठा रहा तो कोरे रत्नों से करेगा क्या ?

पहला रत्न है—पानी। इसके बिना आदमी जिंदा नहीं रह सकता। वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या है कि यह रत्न सूखता जा रहा है। पानी कम होता जा रहा है। पानी का प्रचुर मात्रा में अपव्यय हो रहा है। पीने के लिए पानी सुलभ नहीं रहेगा। कहा जा रहा है—कुछ वर्षों बाद ऐसी स्थिति आयेगी कि लोग गंदी नालियों के पानी को फिल्टर कर पीने के लिए विवश होंगे। यह भी कहा जा रहा है—भविष्य में पानी के लिए युद्ध होगा।

दूसरा रत्न है—अन्न। जीवन निर्वाह के लिए अन्न की आवश्यकता है। किन्तु पानी से इसका मूल्य कम है। अन्न खाए बिना आदमी दो-चार महीने भी रह जाता है। तपस्या करने वाले निराहार रहते हैं पर पानी के बिना बहुत दिन नहीं रहा जाता। **बिन पानी सब सून**—पानी के बिना बहुत कठिनाई होती है। पानी के अभाव में कुछ दिन भले ही रह जाएं पर ज्यादा दिन नहीं रह सकते।

तीसरा रत्न है—सुभाषितम्। मधुर वचन बोलना, किसी को गाली न देना, कटु वचन न बोलना, मजाक नहीं करना। अच्छा बोलना, अच्छी बात कहना, अच्छा चिन्तन देना। संस्कृत का एक संग्रह ग्रंथ है—**सुभाषित रत्न भांडागारम्**—जिसमें सुभाषित श्लोकों का संग्रह है। मैंने भी बाल मुनि की अवस्था में संस्कृत के १००० से ज्यादा श्लोकों का संग्रह किया था। इस वर्ष लाडनू में हमने उस संग्रह को देखा। वह प्रकाशित नहीं है। व्यक्ति ऐसा सुभाषित—अच्छा वचन कहता है कि सारी स्थिति को बदल देता है। संस्कृत साहित्य में, अन्य भाषाओं के साहित्य में और आगम साहित्य में एक-एक वचन ऐसे हैं जो जीवन को बदल देते हैं। सुभाषित वचन वह रत्न है जो समस्या को सुलझा देता है।

जल, अन्न और सुभाषित—ये लौकिक रत्न हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र—ये तीन आध्यात्मिक रत्न हैं। इनका नाम है—रत्नत्रयी।

सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! जिनके पास ये तीन रत्न हैं और जिन्होंने इन तीन रत्नों की साधना के द्वारा अतिशय ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे योगी भी आपके गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। फिर मुझ जैसे साधु को अवकाश कहां होगा? नया विकल्प आते ही आगे बढ़ने के लिए उद्यत पैर

५२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

फिर रुक गए। बड़े काम को झेल लेना तो सरल है किन्तु उसका पार पाना बड़ा मुश्किल होता है।

एक काम होता है समीक्ष्यकारी और एक होता है असमीक्ष्यकारी। जो कार्य सोच-विचार कर किया जाता है, वह समीक्ष्यकारी होता है। जहां पहले कुछ भी नहीं सोचा, तत्काल काम शुरू कर दिया, वह असमीक्ष्यकारी होता है। भारवि ने लिखा है—सम्पदा किसका वरण करती है? जो समीक्षापूर्वक कार्य करता है, सम्पदा उसका वरण करती है। समीक्षापूर्वक कार्य करने वाला जल्दबाजी में कोई काम नहीं करता। जल्दबाजी में काम करे तो अनर्थ हो जाता है। कोई भी बात देखी, कोई घटना सुनी, पूरी बात समझ में नहीं आई और तत्काल दुनिया में फैला दी—यह असमीक्ष्यकारिता है। इससे उलझनें बढ़ती हैं। अधृति के कारण समस्याएं पैदा होती हैं। अगर पहले पूरी समीक्षा कर लें कि यह कार्य मेरे लिए उचित है या नहीं? मैं कर सकता हूं या नहीं? मुझे करना चाहिए या नहीं? पूरी समीक्षा के पश्चात् काम शुरू करें तो कार्य अच्छा होता है।

महाकवि भारवि ने एक श्लोक बनाया और वह एक लाख रुपये में बिका। जिस सेठ ने उस श्लोक को खरीदा, उसने अपने शयनकक्ष में लगा दिया और फिर परदेश चला गया। उस युग में लम्बी यात्राएं होती थीं। पांच-सात साल बीत जाने पर अपने गांव आते थे। अनेक वर्ष पश्चात् अचानक सेठ आया। रात्रि का समय। सेठ सीधा शयनकक्ष में गया। उसने देखा—शय्या पर पत्नी किसी पुरुष के साथ सो रही है। तत्काल गुस्से में आया, तलवार निकाली और सोचा—दोनों का गला काट दूंगा। सहसा उसका ध्यान उस श्लोक पर चला गया—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।

जल्दबाजी में कोई काम नहीं करना चाहिए। अविवेक परम आपदा का स्थान होता है। जो समीक्षापूर्वक कार्य करता है, उसका लक्ष्मी वरण करती है।

श्लोक को पढ़ते ही सेठ का हाथ थम गया, तलवार नीचे रख दी। दोनों के ऊपर से पर्दा हटाया। आवाज सुनते ही पत्नी जाग गई। सेठ ने पूछा—यह कौन है? पत्नी प्रेमभरे स्वर में बोली—आपका लड़का! जब आप परदेश गये तब यह बहुत छोटा था, अब बड़ा हो गया है। सेठ ने पश्चात्ताप के स्वर में कहा—यदि यह श्लोक सामने नहीं होता तो अनर्थ हो जाता। मेरी अधृति और

विकल्प का तमस : संकल्प की दीपशिखा ५३

असमीक्ष्यकारिता से महान् अन्याय हो जाता। यह श्लोक एक लाख रुपये का नहीं, एक करोड़ रुपये का है।

जो समीक्षा करना नहीं जानता, जिसमें धृति नहीं है वह कैसे सफल होगा? समीक्षा हर काम की करनी होती है।

हमने जब अहिंसा-यात्रा शुरू की तो प्रश्न आया—यात्रा का नाम क्या रखें? यात्रा के नाम के लिए कई दिनों तक संगोष्ठियां की। चिन्तन-मन्थन और समीक्षा के बाद निर्णय हुआ कि इसका नाम अहिंसा-यात्रा होना चाहिए। यात्रा में करणीय कार्य की दृष्टि से एक वर्ष तक अनेक गोष्ठियां की। हमें क्या-क्या करना है, इस पर विचार-मंथन किया। उसका परिणाम भी बहुत अच्छा आया। यात्रा बहुत प्रभावी रही।

सिद्धसेन सोचते हैं—प्रभो! मैंने सीधा संकल्प कर लिया। यह मेरी असमीक्ष्यकारिता तो नहीं है? मैंने समीक्षा किए बिना, सोचे-विचारे बिना कहीं काम शुरू तो नहीं कर दिया है? फिर संभले, बोले—नहीं-नहीं, मैंने सोच-समझकर किया है। कार्य में कठिनाइयां संभव हैं। मेरी शक्ति कम नहीं है।

सोचते-सोचते आचार्य को सहारा मिल गया। जो प्रकृति का अध्ययन करता है उसे बहुत सहारा मिल जाता है। कवि वह होता है जो सहृदय होता है। विद्वान् वह होता है जो प्रकृति का निरीक्षण करता है, अध्ययन करता है और प्रकृति की सचाई को ग्रहण करता है। आचार्य के सामने प्रकृति का एक चित्र आ गया।

जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि—ये जो पक्षी हैं, चिड़िया हैं, कबूतर हैं, कोयल हैं, क्या ये अपनी वाणी में नहीं बोलते? इनकी भी अपनी भाषा है। हमने देखा—जैन विश्व भारती परिसर में सैकड़ों मोर हैं। एक मोर बोलता है तो पचासों मोर बोलने लग जाते हैं। उनकी अपनी वाणी है। हम समझें या न समझें, पर वे बोलते तो हैं। जब पक्षी भी अपनी वाणी से बोल सकता है तो मैं चाहे छोटा हूं, कम बुद्धि वाला हूं, कैसा भी हूं, पक्षी से कम तो नहीं हूं। मैं भी अपनी वाणी में अपने मन की बात कह सकता हूं। इसलिए मुझे अंतर्द्वन्द्व को छोड़कर आगे बढ़ना चाहिए, संकल्प को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आप यह अनुभव करते होंगे कि किसी भी कार्य को प्रारंभ करने में अंतर्द्वन्द्व होता है। कुछ दिन पहले एक युवक आया, बोला—मैं नया काम शुरू कर रहा हूं। सफल होऊंगा या नहीं?

५४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

मैंने कहा—अभी कार्य शुरू भी नहीं किया और चिंता कर रहे हो कि सफल बनूंगा या नहीं बनूंगा।

व्यक्ति के मन में एक अंतर्द्वन्द्व होता है कि मैं यह काम कर रहा हूँ। काम पूरा होगा या नहीं। सफल होऊंगा या नहीं? लाभ होगा या नहीं? भीतर ही भीतर द्वन्द्व चलता रहता है। इस द्वन्द्व-आत्मक दुनिया में जीने वाला कौन व्यक्ति ऐसा है जो अंतर्द्वन्द्व की पीड़ा से मुक्त है? हर व्यक्ति के मन में यह द्वन्द्व चलता है कि कल क्या होगा?

एक दिन मेरे पास कुछ साध्वियां बैठी थीं। मैंने उन्हें कहा—तुम एक कल्पना करो कि आज तुम पचीस वर्ष की हो, चालीस वर्ष की हो या कल जब ८० वर्ष की हो जाओगी तो क्या होगा? उस समय तुम्हारे मन की क्या स्थिति होगी? तुम्हारे शरीर की क्या स्थिति होगी? तुम्हारी सेवा-परिचर्या की क्या स्थिति होगी? वह चित्र आज ही बना लो। इस समय अपने मन को इतना मजबूत बना लो कि वह किसी भी स्थिति में कभी भी कमजोर न बने, हर परिस्थिति को झेल सके।

कोई भी व्यक्ति सदा एक समान नहीं रहता। अवस्थाएं बदलती रहती हैं, मनोभाव बदलता रहता है और समय भी बदलता रहता है। व्यक्ति को सोचना चाहिए कि अमुक स्थिति में मेरी क्या मनोदशा रही? आचार्य भी इसी भावना से सोच रहे हैं कि मेरा संकल्प पूरा कैसे होगा? अगर मैं उसे पूरा नहीं कर पाऊंगा, तो लोग क्या कहेंगे?

वे मनोबल बढ़ाने के लिए प्रकृति को देखते हैं। प्रकृति को देखते ही उनका मनोबल बढ़ गया। पक्षियों का चित्र सामने आया—अरे! पक्षी भी तो अपनी वाणी से बोलते हैं, सकुचाते नहीं हैं फिर मुझे अपनी बात कहने में संकोच क्यों होना चाहिए? इस चिन्तन के साथ संकल्प पुनः अविचल हो गया—मैं भी आपकी स्तुति करूंगा। चाहे कोई समझे या न समझे। हो सकता है कि कुछ सुधीजन इसे चिड़ियों की चहक मान लेंगे। यह समझ लेंगे—एक पक्षी चूं-चां, चीं-चीं कर रहा है।

हम देख रहे हैं कि किस प्रकार एक महान् विद्वान् आचार्य चलते हैं, फिर रुकते हैं। फिर चलते हैं, फिर रुकते हैं। फिर साहस को बटोरते हैं। जो व्यक्ति साहसी होता है, साहस को बटोरना जानता है, उसके सामने भी समस्याएं आती हैं किन्तु वह अपने साहस और मनोबल से समस्या को पार कर जाता

विकल्प का तमस : संकल्प की दीपशिखा ५५

है। विकल्पों के तमस् में संकल्प की दीपशिखा को वही प्रज्वलित रख सकता है जो साहसी होता है, लक्ष्य के प्रति समर्पित होता है। आचार्य सिद्धसेन में अपरिमेय साहस, मनोबल और लक्ष्य के प्रति समर्पण था इसीलिए विकल्प उनके संकल्प को प्रतिहत करने में सफल नहीं हो पाए।

७. महत्त्व नाम-जप का

अंतर्द्वन्द्व कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसमें मंथन होता है, नवनीत निकलता है। आचार्य ने आत्ममंथन किया और उपाय निकल आया।

हर समझदार व्यक्ति रास्ता खोजना जानता है, रास्ता बनाना जानता है। जहां कोई समस्या आती है, समाधान खोज लेता है, पथ-प्रशस्त हो जाता है। जिसमें जितनी प्रतिभा होती है वह उतना रास्ता खोज लेता है। आचार्य सिद्धसेन प्रखर प्रतिभासंपन्न साधक मुनि थे। उन्होंने उलझन को मिटाने का रास्ता खोज लिया। सिद्धसेन बोले—मैं विकल्पों में क्यों उलझ गया? मुझे उलझने की जरूरत ही नहीं है।

आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र में लिखा—आपका स्तवन तो दूर, आपकी कथा ही लोगों के दुःखों को नष्ट करने वाली है।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं।
त्वत् संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति॥

आचार्य सिद्धसेन भी इसी भाषा में अपनी भावना व्यक्त कर रहे हैं—आपका अचिन्त्य महिमा वाला स्तवन तो दूर, आपका नाम ही प्राणियों की रक्षा करने वाला है।

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति।

संस्कृत का प्रसिद्ध सूक्त है—अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः—मणि, मंत्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य होता है। जो मणि है, हीरा, पन्ना आदि हैं, उनका प्रभाव भी अचिन्त्य होता है। वे केवल बीमारी को ही नहीं मिटाते, अपितु व्यक्तित्व को भी बदल देते हैं।

मंत्र के द्वारा जटिल लगने वाली स्थिति सरल हो जाती है। यह एक अनुभूत तथ्य है। मंत्र के द्वारा बहुत सारी समस्याएं भी सुलझ जाती हैं। औषधि का प्रभाव भी अचिन्त्य होता है। औषधि जटिल व्याधि को भी मिटा देती है। आदमी सोच नहीं सकता, वह काम उससे हो जाता है।

महत्त्व नाम-जप का ५७

सिद्धसेन कह रहे हैं—प्रभो! आपके स्तवन की महिमा के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। वहां तक चिंतन पहुंचता भी नहीं है। इतना अचिन्त्य है आपका स्तवन।

आस्ताम्—बस मैं अवकाश ले रहा हूं। अब मैं आपका स्तवन नहीं करूंगा। पहले तो स्तुति करने का संकल्प किया, अनेक विकल्पों में उलझ गया। फिर कहा—आस्ताम्—यह स्तवन की बात छोड़ देता हूं। क्या यह निराशा का स्वर है? इसमें निराशा नहीं है और इसलिए नहीं है कि एक नया सरल रास्ता मिल गया। कभी-कभी रास्ता जटिल होता है तो कुछ असहजता का अनुभव होता है। सरल मिलता है तो आनंद आता है।

हम यात्रा करते हैं। कोई जटिल रास्ता होता है और कोई सरल। लाडनूं से श्रीडूंगरगढ़ आना था। प्रश्न आया—कैसे जाएंगे? लोगों ने कहा—एक मार्ग बीदासर होते हुए श्रीडूंगरगढ़ का है, वह कुछ जटिल है। वर्तमान में जैसा वह पथ है, उस पर पैदल चलने वालों के लिए भी कुछ कठिनाई है। इस प्रश्न पर चिंतन किया और यह निर्णीत हो गया—सरल रास्ता लेना है। जहां अच्छी सड़क है, उस पथ से चलें। सुजानगढ़, छापर से मेगा हाइवे का रास्ता लिया, कोई कठिनाई नहीं हुई। जब रास्ता अच्छा मिल जाता है तो कठिनाई नहीं होती। सिद्धसेन को एक सरल रास्ता मिल गया। वे बोले—प्रभो! मैं स्तवन की बात छोड़ देता हूं। आपका नाम ही भवसागर से रक्षा करने वाला है फिर मैं स्तवन क्यों करूं? 'पार्श्व' बस यह नाम ही काफी है मेरे लिए।

विद्वान् व्यक्ति कोई भी बात कहता है तो उसे सिद्ध करना चाहता है। सिद्ध किए बिना कोई बात मान्य नहीं होती। तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र का नियम है—पहले पक्ष प्रस्तुत करो। फिर पक्ष को सिद्ध करने के लिए हेतु दो। हेतु के बिना तुम्हारी बात मान्य नहीं होगी। पक्षसिद्धि के लिए हेतु प्रस्तुत करना आवश्यक है। कहा गया—**अस्ति अमुकं**—वह है और **तस्मात्**—इसलिए है। संस्कृत व्याकरण में हेतु के लिए पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। **तस्माद्धेतोः**—जो मैं कह रहा हूं, मेरा जो पक्ष है वह सही है और उसका हेतु यह है। प्रचलित दृष्टांत है—**अग्निमानयं प्रदेशः**—इस प्रदेश में आग जल रही है। किसी ने पूछा—कैसे पता चला? **धूमात्**—देखो, धुआं निकल रहा है। धुआं हेतु बन गया। तर्कशास्त्र में पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन—इस पंचावयव का प्रयोग होता है।

५८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आचार्य भी हेतु का प्रयोग कर रहे हैं। आपका नाम भी बहुत अच्छा है—इस कथन को हेतु और दृष्टांत के द्वारा समझा रहे हैं। गर्मी का मौसम। मध्याह्न का समय, प्रचण्ड आतप। एक आदमी जा रहा है। पसीना चू रहा है। शरीर तप गया। बड़ी विकट स्थिति बन रही है। वह सोचता है—कहीं ठंडक मिल जाए तो अच्छा हो। उसी समय उसे पद्म-सरोवर दिखाई देता है। उसमें सुन्दर कमल खिल रहे हैं। वह सरोवर के पास गया। पद्म-सरोवर की हवा लगी और ताप दूर हो गया, शान्ति मिल गई। वह हवा भी साधारण हवा नहीं थी। हवा अनेक प्रकार की होती है। हवा के आधार पर बहुत कुछ जाना जाता है। कौन-सी हवा चल रही है? स्वास्थ्य के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल? वर्षा के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल? समस्या पैदा करने वाली है या सुलझाने वाली? पवन का भी पूरा शास्त्र है।

सरसः—उस हवा में जलकण हैं। जहां बड़े तालाब, झील, नदी होती है, वहां जो हवा चलती है वह सूखी नहीं होती, जलकण युक्त होती है। गर्मी से संतप्त मनुष्य को वह जलकण युक्त हवा लगी और सारा ताप शान्त हो गया।

सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! आपका नाम भी ताप का हरण करने वाला है। ताप का एक अर्थ होता है—गर्मी। ताप का दूसरा अर्थ है—तनाव। संस्कृत में तनाव के लिए संताप शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे पथिक को शीतल हवा लगी और उसके शरीर का ताप मिट गया। आपका नाम भी वैसा ही है। वह भीतर की गर्मी को शांत कर देता है, अंतस्थ ताप को शांत कर देता है।

वह ताप कौन-सा है, वह दुःख कौन-सा है, जो आपके नाम-जप से समाप्त हो जाता है? सिद्धसेन कहते हैं—संसार समुद्र में जन्म-मरण के चक्र से होने वाली जो समस्याएं हैं, उलझनें हैं, वे सब दुःख को बढ़ाने वाली हैं। इन दुःखों से जो होने वाला ताप है उस ताप को भी आपका नाम मिटा देता है।

यहां नाम की महिमा गाई गयी है किन्तु यह ध्यान रहे—कोरा नाम लेने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसकी भी एक प्रक्रिया है, विधि है। चाहे पार्श्व का नाम लो, चाहे राम का नाम लो, चाहे महावीर का नाम लो, आचार्य भिक्षु या तुलसी का नाम लो। कोरा नाम ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि हर बात संकेत में कही जाती है। यह एक संकेत है। इसका हार्द है—जब तक नाम को भाव निक्षेप में नहीं ले जाया जाता तब तक वह फलित नहीं होता। उसे समझने के

लिए जैन आचार्यों ने बहुत सुंदर प्रक्रिया बतलाई है। आज इस शब्द पर 'बीमा स्कीम', नई वैज्ञानिक प्रक्रिया भी शुरू हुई है। आज के वैज्ञानिकों, पाश्चात्य दर्शनों में समझने की जो प्रक्रिया शुरू हुई है उसकी तुलना निक्षेप से की जा सकती है।

नाम का जप कैसे करें? कहा गया—जिस व्यक्ति के नाम का जप करना है, पहले उस व्यक्ति के गुणों को सामने लाओ, उसके गुणों का चित्र बनाओ कि वह व्यक्ति कैसा है। महावीर नाम हजारों लोगों का है। हजारों व्यक्ति पारस नाम के हैं। हम किसका जप करें? कौनसा नाम ताप मिटाएगा? कहा गया—जिस व्यक्ति के नाम का जप करें, पहले उसके गुणों का मानसिक चित्र बनाएं। उस व्यक्ति में क्या गुण हैं? उस व्यक्ति में अनंत ज्ञान है, अनंत शक्ति है, अनंत आनंद है। एक पूरा चित्र बनाएं। पूरा चित्र बनाकर फिर उस नाम को अपने भीतर ले जाओ।

उच्चारण की भी प्रक्रिया होती है। अंतस्थ करो—भीतर ले जाओ। केवल बाहर ही मत बोलते रहो। उन गुणों के साथ उस नाम को भीतर ले जाओ। कभी उच्च स्वर में बोलकर, कभी बहुत मंद स्वर में बोलकर और कभी केवल मन में, मानसिक चित्र में उस नाम की स्मृति करो तो सचमुच **नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति**—आपका नाम भी रक्षा कर देता है।

कोरा नाम जपने से बहुत लाभ नहीं होता। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो वर्षों से नाम-जप रहे हैं पर कोई लाभ उनको नहीं मिल रहा है। अगर किसी इष्ट का जप करें तो दो-चार महीने में उसका प्रभाव महसूस हो जाना चाहिए।

कल ही एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने कहा—जो प्रयोग मुझे बताया था वह प्रयोग कर रहा हूँ। प्रयोग करते-करते अब मुझे विभिन्न आकार दिखाई देने लग गए हैं, आकृतियां दिखाई देने लग गई हैं। अब मैं प्रयोग करूँ या न करूँ? मैंने कहा—यह अच्छा लक्षण है। ध्यान के समय ऐसा होना संभव है। इसे कहते हैं—ध्यान-प्रत्यय। ये ध्यान के प्रत्यय हैं। कभी अच्छी आकृतियां दिखाई देती हैं, कभी भयंकर भी दिखाई देती हैं। कभी प्रकाश दिखाई देता है, कभी और कुछ दिखाई देता है। यह ध्यान-साधना की प्रक्रिया में होता है। इसका मतलब है कि प्रयोग में एकाग्रता बढ़ रही है और भीतर से कुछ बातें निकल रही हैं।

माला जपने वाले कुछ लोग कहते हैं—मैं पांच मिनट में नमस्कार महामंत्र की माला फेर लेता हूँ। यह माला फेरने की अच्छी विधि नहीं है। यह तो नहीं

६० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

कहना चाहिए कि मत फेरो। हम मनाही तो क्यों करें? जितना भी करता है, अच्छा है। पर जो लाभ मिलना चाहिए वह नहीं मिलता। माला से समुचित लाभ वही उठा सकता है, जो विधिवत् जप करता है। मैं तो मानता हूँ—नमस्कार महामंत्र की माला विधिवत् जपे तो आधा घण्टा लग सकता है। कम से कम पन्द्रह से बीस मिनट तो लगेगा ही। पांच-दस मिनट में फेरते हैं, वह इस दृष्टि से तो अच्छा है कि उतना समय बर्बाद नहीं हुआ। किन्तु लाभ पूरा नहीं मिलेगा।

हम माला जपें तो विधिवत् जपें। श्वास के साथ माला जपें। एक श्वास में एक नवकार मंत्र या पांच श्वास में पांच पद। एक माह के भीतर आपको लगेगा कि शरीर भी स्वस्थ हो रहा है, मन भी स्वस्थ हो रहा है और भावनाएं भी अच्छी हो रही हैं। आपको अनुभव होगा—हर दिशा में लाभ मिल रहा है।

साधना का एक प्रशस्य उपक्रम है—नाम-जप। एक प्रश्न आता है कि यह नाम-जप कहां से आया? यह बहुत प्राचीन है या इसका बाद में विकास हुआ। एकदम नया तो नहीं है। सहस्राब्दी पहले भी नाम-जप का बहुत महत्त्व बताया गया। कहा गया—इस कलियुग में ध्यान आदि गहरी बातें नहीं हो सकती। इस युग में तो केवल नाम-जप ही पर्याप्त है। जप की परम्परा बहुत पुरानी है। स्वाध्याय जप के अंतर्गत ही है। स्वाध्याय जप का ही एक रूप है।

महर्षि पतंजलि ने एक बहुत सुन्दर बात कही—‘तज्जपस्तदर्थ-भावनम्’—नाम-जप करो यानी शब्द और अर्थ, वाच्य और वाचक के साथ तादात्म्य स्थापित करो। जब तक ‘तदर्थभावनम्’ जो वाचक शब्द है उसके साथ उसके अर्थ की भावना नहीं जुड़ती, तब तक जप वास्तविक नहीं होता, शक्तिशाली नहीं होता। नाम मंत्र तब बनता है जब भावना जुड़ जाती है। कोरा ॐ भिक्षु, ॐ भिक्षु के जप से काम नहीं होता। ॐ भिक्षु का सारा चित्र हमारे सामने रहे, अर्थ हमारे सामने रहे कि भिक्षु क्या है? भिक्षु कौन है? शब्द के साथ उसका चित्र हमारे सामने रहे तो नाम मंत्र बनता है, अन्यथा वह कोरा नाम रह जाता है। नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप यदि भावयुक्त होते हैं तो जप काम करता है। यदि भावयुक्त नहीं होते तो वे काम नहीं करते।

हम दो बातों पर विचार करें। एक शब्द का वैशिष्ट्य और दूसरा अर्थ का वैशिष्ट्य। अक्षर की भी अपनी शक्ति होती है। किस नाम में कौन से अक्षर हैं? प्रत्येक अक्षर का अपना एक कंपन होता है, स्पन्दन होता है। शब्द की शक्ति और वाच्य की, अर्थ की शक्ति—जहां दोनों मिल जाते हैं वहां शब्द

भी शक्तिशाली होकर अर्थ के साथ जुड़ जाता है। जहां दोनों का योग बनता है सचमुच नाम मंत्र बन जाता है। आचार्य ने कहा—‘नामापि पाति’—आपका नाम भी जगत् के प्राणियों की रक्षा कर देगा।

प्रस्तुत संदर्भ में इस सचाई को समझ लेना है कि कोरा नाम रक्षा नहीं करेगा, कोरा शब्द रक्षा नहीं करेगा। जब वह अर्थयुक्त होगा, वाच्ययुक्त होगा तब रक्षा कर सकेगा। यह ध्यान में रखना है कि ‘पार्श्व’ शब्द का अर्थ क्या है, वाच्य क्या है? पार्श्व की पूरी धारणा मन में रहेगी तो नाम भी रक्षा करने वाला बन जाएगा।

आचार्य सिद्धसेन साधक कवि थे इसलिए प्रकृति का अध्ययन किया। एक राही कहीं जा रहा है। गर्मी का मौसम है, तीव्र ताप है। वह एकदम आकुल हो रहा है, उत्पन्न हो रहा है। भयंकर गर्मी और वह रेगिस्तान जैसा क्षेत्र, जहां पानी भी सुलभ नहीं है। वहां कुछ दूर कोई तालाब है और वह कमलों से भरा हुआ है। उस तालाब की ठण्डी हवा आती है। उस हवा में जलकण हैं। जो लोग बहुत हरियाली, तालाब या गहरे पानी के परिपार्श्व से जाते हैं, उन्हें हवा के साथ जलकणों का अनुभव होता है। जलकण सहित हवा लगती है तो शीतलता का अनुभव होता है। वह उस तालाब तक नहीं जा सका किन्तु उसकी जो सरस हवा आती है, वह भी ठण्डक दे देती है। प्रभो! मैं तुम्हारी स्तवना न कर सकूँ तो कोई बात नहीं, आपके नाम-मंत्र का स्मरण भी सरस हवा की तरह ताप का हरण कर देगा।

आपका नाम संसार की समस्याओं से रक्षा करता है—इस कथन का गंभीर अर्थ है। इसका मतलब है—मैं स्वयं आपके नाम का विधिवत् जप करता हूँ तो मुझे अलग से स्तुति करने की क्या जरूरत है? क्योंकि मैंने सारे गुण उस नाम में समाहित कर लिये, इसलिए स्तवना अपने आप हो गई।

यह बड़ा रहस्यपूर्ण श्लोक है। हम स्तुति करें, चाहे नाम जपें, पहले इष्ट के गुणों को सामने रखें। लोग ‘ॐ भिक्षु, ॐ भिक्षु, ॐ भिक्षु’ का जप करते हैं। जप से पहले भिक्षु के गुणों को सामने रखें। भिक्षु कैसे थे? उनमें क्या गुण थे? उनमें एक संकल्प था, साधना थी, सहिष्णुता थी, कषाय शांत थे। मैं आचार्य भिक्षु को पढ़ता रहा हूँ। मैंने अनेक लोगों से पूछा—ऐसे प्रसंग बताओ कि भिक्षु स्वामी को क्रोध कब-कब आया? अनेक पाठक उनके जीवनवृत्त को पढ़ते हैं, भिक्षु जस-रसायन को पढ़ते हैं। हेमराजजी स्वामी द्वारा रचित

६२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

भिक्षु चरित्र को पढ़ते हैं। वेणीरामजी स्वामी ने भिक्षु स्वामी के बारे में लिखा। गुरुदेव तुलसी ने सैकड़ों ढालें बनाईं। आचार्य भिक्षु के बारे में इतना लिखा गया किन्तु क्या किसी ने लिखा—आचार्य भिक्षु को अमुक समय क्रोध आया था।

हम जिसका जप करें, उसमें तन्मय बनें। यदि मैं आज क्रोध शांत करने की साधना शुरू कर रहा हूं तो मैं मेरे सामने उस भिक्षु का चित्र बनाऊं, जिसने क्रोध नहीं किया, जिसका क्रोध शांत था। शांत भिक्षु का चित्र सामने बनाकर फिर 'ॐ भिक्षु' का जप करो। आपको लगेगा कि आपका क्रोध शांत हो रहा है।

नाम रक्षा करता है पर केवल नाम से कुछ नहीं होता। राजस्थान की प्रचलित कहानी है। एक महिला के पति का नाम था ठनठनपाल। उस महिला ने सोचा—मेरे पति का नाम अच्छा नहीं है, नाम बदल देना चाहिए।

एक दिन वह गांव में गई, देखा—एक लड़की गोबर के उपले बीन रही है। उससे पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

उस बहिन ने कहा—'मेरा नाम है लिछमी।'

कुछ आगे बढ़ी, देखा—एक भिखारी खड़ा है, भीख मांग रहा है। उससे पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

वह बोला—'मेरा नाम है धनपाल।'

कुछ क्षण बाद उसने देखा—एक मृत व्यक्ति को लोग श्मशान ले जा रहे हैं।

बहिन ने पूछा—'कौन मर गया?'

उत्तर मिला—'अमरनाथ।'

उसका मन बदल गया, सोचा—मैं केवल नाम में उलझ रही थी पर लगता है—नाम में सार की बात नहीं है।

लिछमी छाना बीनती, भीख मांगे धनपाल।

अमर मरता म्हे सुण्या, आछो म्हारो ठनठनपाल।।

इस भ्रांति में कोई न रहे कि केवल नाम से कुछ होता है। सिद्धसेन ने लिखा—**नामापि पाति भवतो—प्रभो!** आपका नाम रक्षा कर देगा, किन्तु नाम जपने की जो प्रक्रिया बतलाई है, उस प्रक्रिया को नहीं समझेंगे, कोरा नाम

महत्त्व नाम-जप का ६३

जपेंगे तो पूरा लाभ नहीं होगा। विधिवत् न जपें तो दस वर्ष में दस दिन का और विधि से जपें तो दस दिन में दस वर्ष का लाभ मिल सकता है।

हमें प्रक्रिया, विधि को समझना है। आचार्य सिद्धसेन स्वयं जप की प्रक्रिया भी बतला रहे हैं। इस संदर्भ में एक सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किया है, उपाय भी बताया है। इसे योग में तादात्म्य ध्यान, तन्मय ध्यान कहते हैं। वह इष्ट के साथ तन्मय होने की प्रशस्त प्रविधि है। इसका मूल्यांकन और प्रयोग जीवन में नई ऊर्जा का संचार कर देता है।

८. प्रभु रहे हृदय में

आचार्य सिद्धसेन प्रस्तुत श्लोक में हृदयवर्ती होने का महत्त्व प्रतिपादित कर रहे हैं—प्रभो! आप जब हृदयवर्ती होते हैं, हृदय में विद्यमान होते हैं तब कर्म के बंधन अपने आप शिथिल हो जाते हैं।

हृदय का एक अर्थ है—मन। कोशकारों ने हृदय को मन का पर्यायवाची माना है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में हृदय का एक नया अर्थ किया है—हाइपोथेलेमस। हाइपोथेलेमस मस्तिष्क का वह भाग है जो हमारे आवेश को नियंत्रित करता है।

आप जिसका जप करना चाहते हो, स्तवन करना चाहते हो या जिससे कुछ पाना चाहते हो, उसको अपने हृदय में स्थापित करो।

नाम-जप से भी ज्यादा शक्तिशाली उपाय है—हृदय में स्थापित कर लेना। जो व्यक्ति ध्यान का प्रयोग जानता है वह दर्शन केन्द्र पर अपने गुरु का मानसिक चित्र स्थापित करना भी जानता है। इसके द्वारा वह काफी कुछ पा लेता है, सफल हो जाता है। प्रभो! लोग मुझे कहेंगे कि मैं आपकी स्तवना नहीं कर सका। किन्तु कोई बात नहीं है। मैं आपको अपने हृदय में बिठा लेता हूँ। आप मेरे हृदय में रहें—यह बहुत बड़ी बात है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—‘प्रभो! अगर मैं यह प्रार्थना करूँ कि मैं आपके हृदय में रहूँ तो यह मेरी बहुत बड़ी प्रगल्भता होगी क्योंकि आप किस-किस को हृदय में रखेंगे। इसलिए मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं आपके हृदय में रहूँ या न रहूँ, आप मेरे हृदय में रहें।’

तव चेतसि वर्तेऽहं, इति वार्ताऽपि दुर्लभा।

मच्चित्ते वर्तसे चेत्त्वमलमन्येन केनचित्॥

वास्तव में यही पूजा है, अर्चना है कि जो अपना इष्ट है वह अपने हृदय में स्थापित हो जाए। यह भक्ति का, पूजा का सबसे बड़ा प्रयोग है और योग का भी प्रयोग है।

प्रभु रहे हृदय में ६५

जब ध्याता और ध्येय अलग-अलग होते हैं तब दोनों में अभेद नहीं होता। जब ध्याता अभ्यास के द्वारा अपने ध्येय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, ध्येय को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है तब ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता, दोनों एक हो जाते हैं, दोनों में तादात्म्य हो जाता है।

आचार्य अभेद की बात कर रहे हैं—आप हृदय में प्रतिष्ठित हो गए, बस इतना ही पर्याप्त है। फिर मुझे नाम की भी जरूरत नहीं है। आप हृदय में विराजते हैं उस समय, उस अवस्था में गाढ़ कर्म के बंधन शिथिल हो जाते हैं।

इस संदर्भ में एक दार्शनिक या कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझना भी जरूरी है। एक होता है कर्म का क्षय और एक होता है कर्म का शिथिलीकरण। जो साधारण कर्म होते हैं वे बंधते रहते हैं, क्षीण होते रहते हैं। पता नहीं दिन में कितने बंधते हैं, कितने क्षीण होते हैं। ईर्यापथिक बंध का क्रम चलता रहता है। यह शिथिलीकरण अल्पावधिक होता है, ज्यादा टिक नहीं पाता। किन्तु गाढ़ कर्म-बंधन ऐसे नहीं टूटते। उसके लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

भगवती सूत्र में एक दृष्टान्त उपलब्ध होता है कि एरंड को तोड़ना है। छोटा-सा शस्त्र लिया, एरंड पर चलाया, समाप्त हो गया। एक वृक्ष, जिसका तना फैला हुआ है वह कुल्हाड़ी के प्रहार से भी सहजता से नहीं टूटता। उसके लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जो गाढ़, चिकने कर्मबंध हैं अथवा तीव्र परिणामों से जिन कर्मों का बंधन किया है वे सहसा टूटते नहीं हैं।

भगवती सूत्र का दूसरा दृष्टान्त है—बहुत बड़ा हरा-भरा पेड़ है, उसका तना बहुत मोटा है, काटने वाला दुबला-पतला शक्तिहीन आदमी है और काटने का औजार भी भोथरा है, धारदार नहीं है। उस धारहीन शस्त्र से उस पेड़ को काटना बड़ा कठिन है। एक कमजोर बड़ा पेड़ है और काटने वाला तरुण है, बलवान है, शक्तिशाली है और पास में तीक्ष्ण शस्त्र भी है तो वह व्यक्ति उसे तत्काल काट देगा।

कर्म की दोनों स्थितियां होती हैं। जो गाढ़ कर्म बंधे हुए हैं उन्हें तोड़ने के लिए सामान्य प्रयत्न करें तो उन्हें बदलने में, उनकी निर्जरा में बहुत लम्बा समय लगता है। यदि प्रयत्न तीव्र होता है तो हम गाढ़ बंधन को शिथिल बना देते हैं। जो तीव्र विपाक होने वाला है उसको मंद विपाक में बदल देते हैं।

६६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

कर्म की दो अवस्थाएं हैं—क्षय की अवस्था और शिथिलीकरण की अवस्था। पहले कर्म को शिथिल करना होता है फिर क्षीण। इस संदर्भ में धर्म को समझना होगा। धर्म का प्रयोजन है कि बंधन को शिथिल करना, समाप्त करना। उत्तराध्ययन सूत्र में अनुप्रेक्षा का फल बतलाया गया है।

अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिद्धिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्टिइयाओ हस्सकालट्टिइयाओ पकरेइ, तिक्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपएसग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कंमं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतरं खिप्पामेव वीइवयइ।

पूछा गया—भंते! अनुप्रेक्षा से जीव क्या प्राप्त करता है?

अनुप्रेक्षा से जीव आयुष्य-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बंधन से बंधी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बंधन वाली कर देता है, उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभाव को मंद कर देता है। उनके बहु-प्रदेशाग्र को अल्पप्रदेशाग्र में बदल देता है। आयुष्य-कर्म का बंध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असातवेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनन्त लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को तुरंत ही पार कर जाता है।

यह एक सुन्दर प्रक्रिया है। पहले शिथिल करो, फिर उसको समाप्त करो। सीधा समाप्त करना चाहोगे तो वह समाप्त नहीं होगा। एक अच्छी प्रक्रिया का आचार्य ने निर्देश किया है—प्रभो! जब आप मेरे हृदय में प्रतिष्ठित हैं तो फिर मुझे और क्या करने की जरूरत है? बस, आपके हृदय में आते ही बंधन अपने आप ढीले होने शुरू हो गए।

कवि दृष्टान्त या उपमा के द्वारा अपनी बात का समर्थन करते हैं कि जो मैं कह रहा हूँ वह कोरी कामना नहीं है।

कवि कहते हैं—चन्दन की सुगंध से सांप आकृष्ट होते हैं। वे चन्दन के पेड़ पर लिपट जाते हैं, उनका बंधन हो जाता है। किन्तु वन का मोर यदि मध्यभाग में आ जाए तो उसे देखते ही सांप के बंधन अपने आप ढीले पड़ जाते हैं। वे वहां से पलायन कर देते हैं।

प्रभु रहे हृदय में ६७

प्रभो! जब मोर को देखकर नागराज अपने बंधन को छोड़ कर पलायन कर जाता है तो फिर मेरे कर्मों के तीव्र बंधन आपके हृदय में विराजमान होने पर अपने आप ढीले क्यों नहीं होंगे? क्या मुझे कुछ करने की जरूरत रहेगी?

एक पूरी कर्मशास्त्रीय प्रक्रिया है और ध्यान की प्रक्रिया भी है। किसी व्यक्ति को समस्या से मुक्त होना है, बंधन से मुक्त होना है तो वह बंधन को व्यापक अर्थ में समझने का प्रयत्न करे। जितनी समस्याएं, उलझनें, बाधाएं, विघ्न हैं—वे सारे बंधन हैं। एक आदमी समस्याओं से मुक्त होना चाहता है, वह किसी इष्ट का जप शुरू करता है किन्तु जब तक उसको हृदय में प्रतिष्ठित नहीं करता, पूरा काम नहीं होता।

हठयोग में छह चक्र बतलाए गए हैं। कहीं-कहीं नौ चक्रों के नाम भी मिलते हैं। प्रेक्षाध्यान में तेरह चैतन्य केन्द्र बतलाए गए हैं। सुश्रुत आयुर्वेद का ग्रंथ है। उसमें मर्मस्थानों का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है। वहां १५१ मर्मस्थानों का उल्लेख है। वे हमारे शरीर में वहां होते हैं जहां चेतना सघन होती है।

ध्यान की प्रक्रिया में बतलाया जाता है कि आप अमुक केन्द्र पर ध्यान करो, आपकी अमुक समस्या का समाधान हो जाएगा।

समस्याएं अलग-अलग हैं और समाधान के केन्द्र भी अलग-अलग हैं। किस समस्या के लिए कहां ध्यान करना है यह महत्वपूर्ण है। जब कर्म-बंधन को तोड़ना है, उससे मुक्त होना है तो उसके लिए सबसे अच्छा स्थान मस्तिष्क है। कर्म तोड़ने के साथ ज्ञान केन्द्र का बहुत गहरा संबंध है। हठयोग में इसे सहस्रार-चक्र कहते हैं। यह चक्र सबसे शक्तिशाली चक्र है। शरीरशास्त्र की भाषा में इसे लिम्बिक सिस्टम का एक भाग हाइपोथेलेमस कहते हैं। यहां से हमारी सारी वृत्तियों का संचालन होता है। यही भाव की उत्पत्ति का मुख्य केन्द्र है। यहां लेश्या भाव के रूप में बदलती है और भाव हमारे मन, वाणी और शरीर को संचालित करते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—जो भक्त मेरे हृदय में रहता है, मैं उसके हृदय में रहता हूं। अगर हृदय में स्थापित करने की यह कला आ गई तो कवच बन गया, सुरक्षा हो गई। उससे कर्म-बंधन भी ढीले हो जाते हैं।

इन दो उपायों को हम गहराई से समझने का प्रयत्न करें—नाममंत्र का जप और हृदय में प्रतिष्ठा। ये ऐसे उपाय हैं जो स्तवना से भी ज्यादा शक्तिशाली हैं।

६८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

मैं मानता हूँ कि हर व्यक्ति को आत्ममंथन करना चाहिए। जब व्यक्ति आत्ममंथन करता है तो कोई न कोई उपाय खोज लेता है। पर बड़ा कठिन कार्य है मंथन करना और मंथन करने की कला को जानना। हर कोई व्यक्ति इसे नहीं जानता।

रायपसेणिय सूत्र में चतुर कठिहारा और मूर्ख कठिहारा का दृष्टान्त दिया गया है। मूर्ख कठिहारा अरणि की लकड़ी को तोड़ता गया, तोड़ता गया किन्तु आग नहीं निकाल सका। चतुर कठिहारे ने एक लकड़ी हाथ में ली, घर्षण किया और आग पैदा हो गई।

हमें भी चतुर कठिहारा बनना है, चाहे नाम का जप करें या हृदय में प्रतिमा स्थापित करें। केवल शब्दों से नहीं, चतुर कठिहारे की तरह एक ऐसा संघर्षण पैदा करें, ऐसी भावना पैदा करें कि वह प्रतिमा हृदय में स्थापित हो जाए और नाम-जप अपने वाच्य के साथ चलता रहे।

नाम के साथ अर्थ को जानना बहुत जरूरी है। यदि अर्थ स्पष्ट न हो तो नाम के साथ भाव कैसे जुड़ेगा? तर्कशास्त्र में उदाहरण दिया जाता है कि जो अनानास के फल को नहीं जानता, यदि उसको बाजार से अनानास का फल लाने के लिए कहा जाए तो वह क्या लेकर आएगा? किसी से पूछेगा, जानेगा फिर कहीं ला सकेगा। हम भी जिस नाम का जप करें, वे कौन हैं? हम क्या कर रहे हैं, हम क्या करना चाहते हैं? इन सबको पहले जानें। मुझे भी वैसा ही बनना है यह संकल्प करें। नाम तो मात्र एक संकेत है। जिसका जप कर रहे हैं और जो कर रहा है—दोनों में अभेद स्थापित करने का एक माध्यम है। जिस इष्ट का जप करें, पहले उसके बारे में पूरी जानकारी करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित करें तब हमें मंत्र का अभीष्ट फल मिल सकता है।

आचार्य ने कहा—आप भीतर आ जाएं तो बंधन शिथिल हो जाएंगे। अब यहां फिर एक प्रश्न और पैदा हो गया—उन्हें स्थापित करने वाला कौन है? कर्ता स्वयं है, स्वयं स्थापित करता है। वही प्रतिमा बनाने वाला है, वही मानसिक चित्र बनाने वाला है और वही उसके ध्यान में लीन है। अच्छी चीज के आ जाने पर बुरी चीज टिक नहीं सकती। जब अच्छी चीज को हमने हृदय में धारण कर लिया तो बुरी चीज को अपने आप पलायन करना पड़ेगा। कर्म अपने आप शिथिल हो जाएंगे। चेतना की निर्मल दशा का साक्षात्कार होगा।

प्रभु रहे हृदय में ६६

६. मूल्य दर्शन का

आचार्य ने सातवें श्लोक में कहा—आपका नाम भी रक्षा करता है। आठवें श्लोक में कहा—जब आप हृदय में प्रतिष्ठित हैं तो अपने आप रक्षा हो जाती है। ये सारे साधना के प्रकार हैं। इन श्लोकों को हम ध्यान से देखते हैं तो ऐसा लगता है कि आचार्य स्तुति के साथ साधना की पद्धतियां बतला रहे हैं।

साधना का पहला प्रकार है—नाम-जप। दूसरा प्रकार है—अभेद प्रणिधान, इष्ट को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करना। तीसरा प्रकार है—दर्शन।

आचार्य प्रस्तुत श्लोक में दर्शन का मूल्य बतला रहे हैं—प्रभो! जो व्यक्ति आपका दर्शन कर लेता है उसकी अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं। योग में दर्शन की एक प्रक्रिया रही है। आप सामने दिखाई नहीं देते, पर ध्यान की मुद्रा में दर्शन किया जा सकता है, एक मानसिक चित्र बनाया जा सकता है। सफलता के लिए मानसिक चित्र का निर्माण बहुत जरूरी है। मानसिक चित्र का निर्माण करके जो सुझाव दिया जाता है वह सफल भी बनता है। आजकल कुछ विशेषज्ञ व्यक्ति इसका प्रयोग कर रहे हैं। उदाहरण लिया जा सकता है हृदय रोगी का। एक रोगी को सुझाव दिया जाता है कि बीमार हृदय की कल्पना करो, ध्यान करो, सुझाव दो कि मैं स्वस्थ हो रहा हूं, मेरा हृदय स्वस्थ हो रहा है। धीरे-धीरे हृदय की बीमारी ठीक हो जाएगी, हृदय स्वस्थ हो जाएगा। हृदय रोगी ने यह प्रयोग किया और उसे लाभ भी हुआ।

कल पद्मश्री डॉ. महेन्द्र भण्डारी आया, जो किडनी का विशेषज्ञ है, योग्य डॉक्टर है, श्रावक है। उसने कहा—‘मैं स्वयं प्रेक्षाध्यान के बहुत प्रयोग करता हूं। एक बार मेरे पैर में दर्द हो गया था। डॉक्टर ने कहा—छः महीने पट्टा रखना पड़ेगा। मैंने सुझाव का, ऑटोसजेशन का प्रयोग किया। पैरों को सुझाव देता गया कि जल्दी ठीक हो जाओ। दो महीने में ठीक हो गया, चलने लग गया। डॉक्टर को आश्चर्य हुआ कि यह कैसे हुआ?’ जब व्यक्ति मानसिक चित्र का निर्माण करता है, सुझाव देता है तो स्वस्थ हो जाता है।

७० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

प्रभो! जिस व्यक्ति ने आपका मानसिक चित्र बना लिया, आपका दर्शन कर लिया, वह व्यक्ति सैकड़ों-सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से मुक्त हो जाता है। इस दुनिया में जीएं और उपद्रव न हो, ऐसा संभव नहीं है। आचार्य कहते हैं—‘त्वयि वीक्षितेऽपि’—आपको देखते ही भयंकर उपद्रव शांत हो जाते हैं, भयंकर उपद्रवों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

एक बार एक परिवार सेवा में आया। एक भाई ने कहा—हमारे परिवार का एक सदस्य प्रेतात्मा के उपद्रव से ग्रस्त है। कोई उपाय बताएं, जिससे इस उपद्रव से मुक्त हो जाएं। मैंने उनकी बात ध्यान से सुनी और कहा—‘एक बार उस आत्मा को हमारे दर्शन कराओ। हम उनसे बात करें।’ उस व्यक्ति के शरीर में प्रेतात्मा आई। हमने प्रेतात्मा से पूछा—‘बोलो, क्या बात है?’ प्रेतात्मा ने कहा—‘मैं आपके सामने नहीं रह सकती।’ यह एक रहस्यपूर्ण प्रयोग है। अगर व्यक्ति अच्छी साधना करता है, साधना का तेज है, आभामंडल शक्तिशाली है तो कमजोर आभामंडल वाला सामने कभी नहीं आ सकता, वह कोई उपद्रव भी नहीं कर सकता। हमने इसका बहुत बार अनुभव किया है।

उपद्रव शमन के लिए कुछ लोग देवी-देवताओं के मन्दिरों में भी जाते हैं। वस्तुतः यह सारा खेल प्रकंपनों का है। बुरे प्रकंपनों के क्षेत्र में जाने से अच्छा दिमाग भी बुरा बन जाता है। अच्छे प्रकंपनों के क्षेत्र में जाने से बुरा दिमाग भी अच्छा बन जाता है, शांत बन जाता है। चूरू-टमकोर के मध्य हम एक गांव में थे। एक भाई ने बताया—अमुक भाई आत्महत्या करने को तैयार था। वह पत्नी-पुत्र सबसे परेशान था। उसने सोचा—अब जीने का कोई मतलब नहीं है। घर में कुंड था। उसमें गिरने के बारे में सोच रहा था। एक दिन सुबह के समय टी.वी. का स्विच ऑन किया। उसमें हमारा प्रवचन चल रहा था और संयोग से वही विषय प्रवचन में आ गया। उसने सुना और विचार बदल गया। उसने संतों से कहा—‘मैं आत्महत्या कर रहा था, प्रवचन सुनते ही विचार बदल गया। अब मैं आत्महत्या नहीं करूंगा। मुझे सुख से जीना है, शांति से जीना है।’ वाणी के प्रकंपन, दृष्टि के प्रकंपन, साक्षात् आकृति के प्रकंपन एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

भारत में सत्संगति के विषय में बहुत लिखा गया है। सत्संगति का मतलब क्या है? ऐसे पुरुषों की संगति करो, जिनकी लेश्या शुद्ध है, जिनका भाव शुद्ध है, जिनका आभामंडल शुद्ध है। उनके पास जाओ, तुम्हारे भाव भी अच्छे बन जाएंगे। बुरे लोगों की संगति में जाओगे तो तुम्हारे भाव भी बुरे हो

जाएंगे। कोई आदमी शराब पीकर किसी के पास जाकर बैठता है तो उस पर भी असर हो जाता है। आजकल यह कहा जाता है कि कोई बीड़ी, सिगरेट पीता है, धुआं छोड़ता है, उसके पास मत बैठो। बीड़ी-सिगरेट पीने से फेफड़े रूग्ण हो जाते हैं। धुआं पास में जाएगा तो सिगरेट न पीने वाले पर भी उसका असर हो जाएगा।

सभी धर्म-दर्शनों में सत्संगति का महत्त्व बताया गया है। इसका तात्पर्य समझें। जिसका आभामंडल अच्छा है, पवित्र है, उस आदमी के पास बैठने से आभामंडल अच्छा होगा, व्यवहार बदल जाएगा। बुरे प्रकंपनों के संपर्क से अच्छा आदमी भी बुरा बनना शुरू हो जाता है।

आचार्य ने एक रहस्यपूर्ण बात कह दी—प्रभो! आपके दर्शन से, आपको देखने मात्र से ही आदमी उपद्रवों से मुक्त हो जाते हैं।

हर व्यक्ति के जीवन में उपद्रव आते हैं। कभी ग्रहों का उपद्रव, कभी प्रकृति का उपद्रव, कभी भूकंप का उपद्रव। एक भूकंप भूमि के नीचे से आता है, उपद्रव करता है और कुछ विकिरण ऊपर से आते हैं, उपद्रव करते हैं। मध्यलोक में जहां हम रहते हैं, इतने कीटाणु भरे हैं कि वे उपद्रव करते रहते हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के सामने उपद्रव करता है, पशु भी उपद्रव करता है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म जीवों का जगत् जितना उपद्रव करता है, स्थूल आदमी उतना नहीं कर सकता।

हमारे शरीर के भीतर भी सूक्ष्म जीव हैं—बैक्टीरिया, वे बहुत उपद्रव कर रहे हैं। बीमारी का एक कारण है—बैक्टीरिया का बढ़ जाना। डॉक्टर भण्डारी ने बताया—आदमी ऐन्टिबायोटिक दवा लेता है किन्तु वह काम नहीं करती। वे कीटाणु अपने ऊपर एक खोल बना लेते हैं, सुरक्षा कवच बना लेते हैं। जब तक उस ऐन्टिबायोटिक का असर रहता है वे उस खोल में चले जाते हैं। जब असर मिट जाता है, बाहर आकर पुनः उपद्रव करने लग जाते हैं। सूक्ष्म जीव सबसे अधिक समस्याएं पैदा कर रहे हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—‘सुहुमा सव्वल्लोयम्मि लोगदेसे य बायरा’ सूक्ष्म जीव पूरे लोक में व्याप्त हैं। बादर तो बहुत थोड़े हिस्से में हैं। जो जीव निश्चय दृष्टि से सूक्ष्म हैं वे हमें सताते नहीं हैं, किन्तु जो स्थूल जगत् में सूक्ष्म बन गए हैं उनका प्रवेश सर्वत्र है। उनके प्रवेश में कहीं बाधा नहीं आती। वे चाहे जहां शरीर में घुस जाते हैं फिर सताते रहते हैं, उपद्रव करते रहते हैं।

७२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

उपद्रव से इस दुनिया में कोई नहीं बच सकता। कोई यह दावा करे कि मैं उपद्रव से मुक्त रहूंगा तो यह उसकी भ्रांति है। पर आदमी ने उपाय खोजे हैं। उपद्रव से मुक्त होने का एक उपाय है—दर्शन। परमात्मा का दर्शन करते रहो, पवित्र आत्मा का दर्शन करते रहो, तुम उपद्रवों से मुक्त रह सकोगे। मन में प्रश्न पैदा हुआ—दर्शन कैसे करें? वे स्वयं सामने नहीं हैं, उनका तो फोटो भी सामने नहीं है, फिर कैसे करें? समाधान की भाषा में कहा गया—प्रभु को हृदय में स्थापित कर लो, एक मानसिक चित्र बना लो। मानसिक चित्र बनाकर उसे देखते रहो।

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हर व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मैं ज्यादा दर्शन किसका करूँ? व्यक्ति बाह्य जगत् में जीता है, सबको देखता है। कभी-कभी मन में आता है—प्रतिक्रमण का समय है, लोग हमारे दर्शन करने आ रहे हैं। दर्शन तो आत्मा का करना चाहिए पर दर्शन किसका होता है? अगर प्रतिक्रमण करें, ध्यान में रहें और वंदना स्वीकार न करें तो लोग कहेंगे—हम तो गए, वंदना स्वीकार ही नहीं की, समस्या पैदा हो जाएगी। दर्शन होना चाहिए किसी का और होता है किसी का। यह व्यवहार है, व्यवहार में बहुत कुछ करना पड़ता है। वस्तुतः दर्शन अपने भीतर चलता रहे, बाह्य जगत् को देखते हुए भी अंतःदर्शन में स्थिरता को बनाए रखे। बाहर को देखे बिना काम नहीं चलता, देखना पड़ता है। पता नहीं कितनी दृष्टियों से किन-किन को देखना पड़ता है, अलग-अलग दृष्टियों से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को देखते हैं। अगर दर्शन शुद्ध नहीं हो तो अनेक विकृतियां भी पैदा हो सकती हैं।

जो मर्म को समझता है वह आत्मा को अपना स्थाई दर्शन का केन्द्र बना लेता है। आत्मा को निरंतर देखता रहे, साथ-साथ दूसरों को भी देखता रहे तो समस्या उलझेगी नहीं। केवल आने वालों का दर्शन किया और परमात्मा का दर्शन नहीं किया तो उसका क्या महत्त्व है? संस्कृत साहित्य में एक सुन्दर श्लोक आता है—

बाले मातृमुखो जातः, तारुण्ये तरुणीमुखः।

पुत्रपौत्रमुखो वाध्यै, मूर्खो नान्तर्मुखो भवेत्॥

व्यक्ति बचपन में मातृमुख रहता है। युवावस्था में तरुणीमुख रहता है और वृद्धावस्था में वह पुत्र और पौत्रमुख हो जाता है, पर वह अंतर्मुख नहीं

होता। अंतर्मुख होने के लिए अपना दर्शन और व्यवहार चलाने के लिए बाहर का दर्शन आवश्यक है।

रहस्य योग में अनेक प्रकार की दीक्षाओं का उल्लेख मिलता है—दृष्टि दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, वेध दीक्षा, शाम्भवी दीक्षा आदि। जिस प्रकार मछली अपने बच्चों को दूर से देखकर ही उनका संरक्षण और पालन-पोषण करती है, इसी तरह सद्गुरु भी अपने शिष्य में अपनी दिव्य दृष्टि से ज्ञान का संचार करते हैं। यानी शिष्य की ओर देखने मात्र से उसमें शक्तिपात कर देते हैं। यह भी बड़ा योग है। गुरु के दृष्टिपात से समस्या का समाधान हो जाता है।

दर्शन दीक्षा को उदाहरण से समझें। जैसे—गुरु कुछ भी नहीं करता, कुछ भी नहीं कहता, कुछ भी नहीं देता, अपने शिष्यों की तरफ एक स्नेहिल और वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से देखता है। शिष्य में नई ऊर्जा का संचार हो जाता है। इसका बहुत प्रयोग हुआ है। योग के ग्रंथों में इसका बहुत वर्णन मिलता है। **दर्शन दीक्षा**—संकल्प करें, गुरु मेरे सामने विराजमान हैं। आप गुरु को देखते रहिए। उनका मानसिक चित्र बनाएं। कल्पना करें—गुरु मुझे कृपापूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। यह दर्शन का विज्ञान या कला सीख लें, आपको साक्षात् दर्शन हो जाएगा और सैकड़ों उपद्रवों से मुक्त हो जाएंगे।

आचार्य ने अपनी बात को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए बहुत सटीक उदाहरण दिया है। एक चोरों का गिरोह गायों की चोरी करने के लिए आया। अनेक गायों को चुराया। जैसे ही जाने लगे, सूर्य उदित हो गया।

गोस्वामी का एक अर्थ है राजा। दूसरा अर्थ है गायों का मालिक और तीसरा अर्थ है सूरज। प्रस्तुत संदर्भ में ये तीनों अर्थ घटित होते हैं। अकस्मात् राजा आ गया और चोर गायों को छोड़कर भाग जाते हैं अथवा गायों का मालिक आ गया, वे गायों को छोड़कर भाग जाते हैं अथवा सूरज उग गया, सूरज उदित होते ही चोर शान्त हो जाते हैं। औरों की तो बात ही क्या, सूर्योदय के साथ बीमारी भी शान्त हो जाती है। बीमारी रात को जितनी सताती है, सूर्योदय के बाद उतनी नहीं सताती। जहां ताप है वहां कोई टिक नहीं सकता।

प्रभो! जैसे चोर गोस्वामी को देखते ही भाग जाते हैं, वैसे ही आपके दर्शन मात्र से सैकड़ों उपद्रव अपने आप शान्त हो जाते हैं। कुछ करना नहीं पड़ता, सब कुछ अपने आप हो जाता है।

७४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

एक उपाय खोजा—नाम मंत्र का। दूसरा उपाय है आप मेरे हृदय में विराजमान हो जाएं। तीसरा उपाय है दर्शन का। आपके दर्शन हो जाएं तो सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याण मंदिर केवल स्तुति का ग्रंथ नहीं है, ध्यान का भी ग्रंथ है। स्तुति के माध्यम से कितने रहस्यों का उद्घाटन आचार्य कर रहे हैं। अगर उन रहस्यों को पकड़ सके तो व्यक्ति अच्छा साधक भी बन सकता है।

१०. कौन है तारक ?

भगवान् पार्श्व की स्तुति करते-करते आचार्य के मन में प्रश्न पैदा हो गया—प्रभो! लोग कहते हैं—**त्वं तारकः**—आप तारक हैं, आप संसार समुद्र से तारने वाले हैं। किन्तु यह बात संगत नहीं लग रही है। आप तारक कैसे बने? जो व्यक्ति इस संसार समुद्र को पार करते हैं, वे आपको हृदय में धारण करते हैं। वे आपको तार रहे हैं, वे आपको ले जा रहे हैं फिर आप तारक कैसे हुए?

‘नमोत्थुणं’ में एक पद है तिन्नाणं तारयाणं। तीर्थंकर तारक होते हैं, तारने वाले होते हैं। वे पोत हैं, नौका हैं। किन्तु तारक कब और कैसे बनते हैं? एक व्यक्ति आपको हृदय में स्थापित कर लेता है और वह तरता है। आप तो उसके हृदय में हैं। अतः तारने वाला तो वह हो गया। आपको वह ले जाता है। ले जाने वाला बड़ा है या ले जाई जाने वाली वस्तु? वह स्वयं तो तर रहा है और आपको हृदय में बिठा रखा है। इसका मतलब हुआ—वह आपको तार रहा है फिर आप तारक कैसे बने?

त्वामुद्भवहन्ति हृदयेन—भक्त आपको हृदय में वहन कर रहा है फिर आप तारक कैसे बने? एक व्यक्ति तैर रहा है, उसके शरीर पर कपड़ा ओढ़ा हुआ है। कोई कहे, कपड़ा तार रहा है। कपड़ा कैसे तार रहा है? वह स्वयं तैर रहा है। आप तारक कैसे बने?

एक गंभीर प्रश्न उपस्थित किया है और प्रश्न के साथ समाधान भी दिया है। आचार्य कहते हैं—यह ठीक है कि वह व्यक्ति तर रहा है। किन्तु आप उसके हृदय में हैं इसलिए तर रहा है। प्रभाव किसका है?

एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। हनुमान ने पत्थर पर ‘राम’ लिखा, सब पत्थर तिर गए। स्वयं राम ने जो पत्थर फेंका, वह डूब गया। राम को आश्चर्य हुआ। यह कैसे हुआ? तब हनुमान बोले—प्रभो! आप इसे समझ नहीं पाएंगे। उन सब पर राम नाम लिखा हुआ था। आपने जो पत्थर फेंका उस पर राम नाम अंकित नहीं था।

७६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

तारने वाला जो है उसका प्रभाव कहां है? इस बात को समझाने के लिए आचार्य ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। किसी व्यक्ति से पूछा गया—दृति, जिसे मारवाड़ी में दीवड़ी कहते हैं, वह पानी में तैरती है। उसमें हवा है इसलिए तैरती है या बिना हवा के तैरती है?

उत्तर मिला—उसमें हवा है इसलिए वह तैरती है।

‘जो थैली तैर रही है, उसमें थैली का प्रभाव है या हवा का।’

उत्तर दिया गया—‘प्रभाव तो हवा का ही है।’

आचार्य ने सोचा—एक साधारण आदमी भी इस प्रश्न का समाधान दे रहा है कि दृति के भीतर हवा है, उसका प्रभाव है, इसलिए दृति तैर रही है फिर मैं क्यों उलझूं? मैं भी यह मान लूं कि जो व्यक्ति संसार सागर को पार कर रहे हैं, उनके हृदय में आप हैं इसलिए वे पार कर रहे हैं। मैं क्यों अपने आपको तारक मानूं?

कभी-कभी छोटे लोग भी बड़ी समस्या को सुलझा देते हैं। कवि ने साधारण व्यक्ति का सहारा लिया और प्रश्न सुलझ गया कि आप तारक हो सकते हैं। संसार समुद्र को पार करने वाले आपको हृदय में बिठाते हैं तभी वे तरते हैं। यह प्रभाव किसका हुआ? जैसे हवा के कारण थैली तैरती है, वैसे ही आपके प्रभाव से भक्तजन संसार समुद्र को तर जाते हैं। जिसका प्रभाव होता है उसे तारक कहने में कोई कठिनाई नहीं लगती। अब मैं कह सकता हूं कि आप तारक हैं। समस्या थी और समाधान हो गया।

आज दुनिया में बहुत सारी समस्याएं हैं, वे क्यों नहीं सुलझ रही हैं? इसलिए कि एकात्मकता का प्रयोग नहीं हो रहा है। जब तक समस्या और समाधान सुलझाने वालों में एकात्मकता नहीं होती तब तक समस्या का समाधान नहीं होता। एक छोटी-सी कहानी से इस बात को हम आसानी से समझ सकते हैं।

भिखारी भीख मांगने के लिए एक विशाल मकान के द्वार पर गया। मकान मालिक से कहा—‘कुछ दो।’

मालिक—‘अभी मेरे पास कुछ नहीं है।’

भिखारी—‘रोटी दे दो।’

मालिक—‘रोटी नहीं बनी है।’

कौन है तारक? ७७

भिखारी—‘कपड़ा दे दो।’

मालिक—‘कपड़ा नहीं है।’

भिखारी—‘पुराना कपड़ा ही दे दो।’

मालिक—‘वह भी नहीं है।’

भिखारी मांगता गया। मालिक नकारता गया।

भिखारी—‘फिर इतने बड़े मकान में क्यों बैठे हो? मेरे साथ आ जाओ, दोनों भीख मांगते हैं।’

भिखारी की समस्या क्यों नहीं सुलझी? उसका कारण क्या है? देने वाले और मांगने वाले में एकात्मकता नहीं है। मांगने वाले में जो पीड़ा है, उसकी अनुभूति देने वाले में नहीं है। वह यह नहीं सोच रहा है कि बेचारा भूखा है। मेरे घर में इतना धन है, मुझे थोड़ा सा देने में क्या कठिनाई है। यह संवेदनहीनता एकात्मकता की अनुभूति में बाधक बनती है। यदि समस्याग्रस्त और समाधानकर्ता में एकात्मकता हो जाए तो बहुत समस्याएं सुलझ सकती हैं।

इस संदर्भ में यह श्लोक बहुत सुन्दर बोध-पाठ दे रहा है कि तुम समस्या से पार जाना चाहते हो तो एकात्मकता स्थापित करो। जब तक भेद बना रहेगा, समस्या नहीं सुलझेगी। तुम्हें अभेद में जाना होगा। मीरा ने गिरधर कृष्ण के साथ एकात्मकता स्थापित कर ली। गिरधर कहां था? वह मीरा के सामने नहीं था किन्तु मीरा ने एकात्मकता स्थापित की और अपने लक्ष्य तक पहुंच गई। ध्यान करने वालों को यह सोचना है कि जिसका ध्यान कर रहे हैं उसके साथ एकात्मकता हो रही है या नहीं? ‘णमो अरहंताणं’ इस मंत्र में हम अर्हत् को नमस्कार करते हैं, जप करते हैं। यदि तन्मयता के साथ करो तो अनुभव होगा—अर्हत् के साथ तुम्हारी एकात्मकता हो रही है। जब तुम ध्यान करो, चिंतन करो, संकल्प करो, वैसा तुम्हारे भीतर घटित होना शुरू हो जाएगा और धीरे-धीरे तुम वैसे बन जाओगे।

तुम जिसके साथ जुड़ना चाहते हो या तादात्म्य चाहते हो, जिसे पाना चाहते हो, उस रूप में तुम स्वयं परिणत हो जाओगे, तुम स्वयं अर्हत् बन जाओगे, फिर तुम्हें ‘णमो अरहंताणं’ कहने की जरूरत नहीं होगी। जब व्यक्ति तादात्म्य की स्थिति में पहुंच जाता है तब वह स्वयं उस रूप में बदल जाता है। मिट्टी स्वयं घड़ा बन जाती है। फिर मिट्टी और घड़ा अलग नहीं रहते। मिट्टी में पानी को रखने की शक्ति नहीं है। वही मिट्टी जब घट रूप में परिणत हो

जाती है तो जल-धारण करने की शक्ति प्राप्त कर लेती है। तर्कशास्त्र में कहते हैं—उपादान स्वयं सामने आ गया।

इस श्लोक में एक बहुत सुन्दर दर्शन प्रस्तुत किया गया है कि तुम चाहो कि पार्श्व मुझे तारें तो वे कभी नहीं तार सकेंगे। पार्श्व को तुम तारो तो पार्श्व तुम्हें तार देगा। वह तुमसे भिन्न रहकर तुमको नहीं तारेगा। उसको हृदय में बिठा लो तो वह तार देगा।

सफलता का सूत्र है—एकात्मकता। सेवक-स्वामी, मालिक-नौकर में पारस्परिक एकात्मकता नहीं है तो काम अच्छा नहीं होगा, काम में सफलता भी नहीं मिलेगी। एकात्मकता से काम शीघ्र संपन्न हो जाता है।

एक है विवशता और एक है एकात्मकता। मालिक और नौकर बहुत झगड़ा करते थे। मैंने इस बात को अनेक बार सुना। एक दिन मैंने मालिक से कहा—‘तुम दोनों इतने अधिक क्यों लड़ते हो? कारण क्या है?’

वह बोला—‘दोनों का स्वभाव ही ऐसा बन गया।’

‘कभी सोचते भी हो कि इसे (नौकर को) छोड़ दूँ।’

‘यह तो नहीं सोचता। इसलिए कि इसके बिना मेरा काम नहीं चलता।’

‘यदि वह ऐसा सोच ले तो?’

‘नौकर भी ऐसा नहीं सोच सकता क्योंकि मेरे बिना उसका काम नहीं चलता।’

यह विवशता है, एकात्मकता नहीं है। विवशता में कोई सफलता नहीं मिलती। वहां लड़ाई-झगड़ा चलता रहेगा, समस्या उलझती रहेगी। जब यह एकात्मकता हो जाती है—स्वामी का नुकसान मेरा नुकसान है, तो स्थिति बदल जाती है। आजकल अनेक लोग भागीदार या साझीदार बनकर व्यापार करते हैं। मैंने कई लोगों से कहा—‘ऐसा क्यों करते हैं?’ उनका उत्तर होता है—‘इससे हम निश्चिंत हो जाते हैं। नौकरी देते हैं तो खतरा रहता है। जब पार्टनर बना दिया तो वह सही बताएगा। इसलिए कि जितना बताएगा, उतना लाभ मिलेगा।’

हम भी इन महापुरुषों के पार्टनर बन जाएं, बीच में दूरी न रहे। उनका लाभ हमारा लाभ, हमारा लाभ उनका लाभ। यही बात इस श्लोक से प्रतिध्वनित हो रही है कि भगवान् के साथ हमारी एकात्मकता जुड़ जाए। यह विवशता नहीं

कौन है तारक? ७६

है। इससे मुझे भी लाभ है, उन्हें भी लाभ है। उनका तो यश हो रहा है। मुझे लाभ यह है कि मेरी समस्या सुलझ रही है। यह एकात्मकता होने पर हमारा काम अच्छा हो सकता है।

प्रस्तुत श्लोक में हृदय-देश में धारण करने की निष्पत्ति का भी चित्रण है। दो धाराएं एक साथ नहीं रह सकती। या तो हमारे चित्त में अशुभ भाव रहेगा, औदयिक भाव रहेगा या शुद्ध भाव, क्षायोपशमिक भाव रहेगा। जितना-जितना क्षायोपशमिक भाव रहता है, उतना-उतना आदमी तरता है। जितना औदयिक भाव रहता है, आदमी उतना ही डूबता है। प्रभु भीतर हृदय में विराजमान है, शुभ भाव है, क्षायोपशमिक भाव है तो अशुभ भाव भीतर नहीं आयेगा।

हम इस श्लोक से यह बोधपाठ ले सकते हैं कि हृदय में, अंतःकरण में, चित्त में, मस्तिष्क में एक पवित्र आत्मा की स्थापना करें। मस्तिष्क के अग्रभाग पर एक अर्हत् की प्रतिमा स्थापित करें। अर्हत् का चित्र कहां होता है? मस्तिष्क में अर्हत् की कल्पना की जाती है, मानसिक चित्र बनाया जाता है। अर्हत् स्थापित रहता है, सामने आता रहता है तो उपद्रव, विघ्न-बाधा समाप्त हो जाती है। जितने अशुभ भाव हैं, उपद्रव, अवरोध हैं, वे सब दूर हो जाते हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने इस श्लोक में बहुत हृदयस्पर्शी तथ्य प्रस्तुत किया है—अगर तुम अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हो, तीर्थंकर की उपासना करना चाहते हो तो दर्शन की कला को समझो, दर्शन का प्रयत्न करो और हृदय में प्रभु को धारण करो। जैसे मशक को हवा तारती है वैसे ही वह तुम्हारे लिए तारक बन जाएगा।

११. सूत्र काम विजय का

स्तुति का एक पक्ष है जितेन्द्रियता। सिद्धसेन ने कहा—प्रभो! आप जितेन्द्रिय हो गए। जिस कामदेव ने बड़े-बड़े साधकों को विचलित कर दिया और वे प्रभावहीन हो गए। बड़े-बड़े साधक जिस काम के वशीभूत होकर अपने पथ से भटक गए, उसी काम को आपने क्षण भर में जीत लिया। यह बहुत बड़ी घटना है।

एक बार अर्हत् पार्श्व ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। कामदेव अपनी पत्नी रति के साथ उसी दिशा में जा रहे थे। उन्होंने पार्श्व को देखा। रति ने कामदेव से पूछा—‘कोऽयं नाथ! स्वामिन्! यह कौन है? ध्यान की मुद्रा में खड़ा अच्छा लग रहा है।’

कामदेव—‘जिनोऽस्ति—ये जिन हैं, अर्हत् पार्श्व हैं।’

रति—‘क्या ये आपके अधीन हैं? आपके साम्राज्य में हैं? इन पर आपका प्रभाव है?’

कामदेव—‘नो नो स्वतंत्रः प्रिये! ये स्वतंत्र हैं। मेरा इन पर कोई प्रभाव नहीं है।’

रति—‘आप कहते हैं कि सारी दुनिया मेरे वश में है, मैंने सारी दुनिया पर विजय पा ली। कितना अहंकार करते हो, शौर्य की बड़ी-बड़ी बातें करते हो। अब तुम इस अहंकार को छोड़ो।’

कामदेव—‘तुम्हारी बात ठीक है पर करूं क्या? इस आदमी ने दो काम कर लिए—मोह को जीत लिया और मन का स्वामी बन गया। अब मैं क्या कर सकता हूँ? वहां मेरी शक्ति कहां चलती है? मेरा साम्राज्य कहां है? जहां मोह का साम्राज्य है वहां मेरा अधिकार है। दूसरी बात—जो मन के अधीन हैं, मन के दास हैं, वहां मेरा अधिकार है। पर इस व्यक्ति ने मोह को जीत लिया और मन का स्वामी भी बन गया। जो मोह को जीत लेता है और मन को वश में कर लेता है उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं रह सकता।’

सूत्र काम विजय का ८१

एक सुन्दर संवाद है। जो आचार्य सिद्धसेन ने कहा, उसका इस संवाद से बहुत समर्थन होता है। **क्षपितः क्षणेन**—एक क्षण में काम को नष्ट कर दिया। ये सारी वासनाएं, मद और काम कहां हैं? जहां मोह होता है। आचार्य रामसेन ने तत्त्वानुशासन में बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है कि मोह एक सम्राट् है। राग और द्वेष—ये दो उसके सेनापति हैं। इनके द्वारा मोह अपना सारा कार्य संचालित कर रहा है, उसका साम्राज्य चल रहा है। मोह सारी दुनिया को चला रहा है। अगर मोह नहीं होता तो दुनिया में कोई विकार नहीं होता। अगर मोह नहीं होता तो दुनिया में कोई अपराध नहीं होता। अगर मोह नहीं होता तो कोई तनाव नहीं होता। यह मोह की महिमा है और मोह के कारण सब हो रहा है।

दो प्रकार के लोग होते हैं—एक प्रकार के लोग वे होते हैं जो मन के दास होते हैं। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं जो मन के स्वामी होते हैं। जो व्यक्ति मन के दास हैं, मन के चलाए चलते हैं वहां रतिपति का बल चलता है, उसकी शक्ति काम करती है। जहां आदमी मन का स्वामी बन गया, मन के चलाए नहीं चलता किन्तु मन को स्वयं चलाता है वहां कामदेव का जोर नहीं चलता। आचार्य ने दो रहस्यपूर्ण सूत्र दे दिए—

१. जहां मोह और मन की दासता, वहां काम का साम्राज्य।

२. जहां मोह विजय और मन पर स्वामित्व, वहां काम से मुक्ति।

अर्हत् पार्श्व ने उस कामदेव को भी निर्वीर्य बना दिया, निष्क्रिय और शक्तिहीन बना दिया। क्षण भर में उसे नष्ट कर दिया। इससे दो बातें स्पष्ट हो गई—उन्होंने मोह विजय की साधना की और मन को विलीन कर दिया। इन दो साधनों के द्वारा अर्हत् पार्श्व विजयी बन गए।

स्तुतिकार के मन में प्रश्न पैदा हुआ—काम इतना शक्तिशाली है, उसे निरस्त कैसे किया जा सकता है? स्तुतिकार ने फिर प्रकृति का अध्ययन और विश्लेषण किया, सोचा—पानी बहुत शक्तिशाली है। वह आग को बुझा सकता है। हम यदि रतिपति को, काम को पानी मान लें, आग बुझाने वाला मान लें तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं होता। सब उसके अधीन होंगे। किन्तु पानी को भी एकाधिकार नहीं है। पानी आग को बुझा सकता है, पर बड़वानल को नहीं बुझा सकता। अग्नि तीन प्रकार की होती है—१. रसोई के चूल्हे की आग, २. दावानल—जंगल की आग, ३. बड़वानल—समुद्र की आग। पानी आग को

८२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

बुझा सकता है पर जब समुद्र में आग लगती है तब वह पानी को भी पी जाती है, सोख लेती है, समाप्त कर देती है।

प्रभो! मोह, काम ने बड़े-बड़े साधकों को विचलित कर दिया पर आप जैसे बड़वानल पर उसका जोर नहीं चला इसलिए आप दुर्जेय और अजेय बन गए।

प्रभो! मैं आपकी क्या स्तवना करूं? आपने बहुत बड़ा काम किया है। बड़े-बड़े महापुरुष जिस कामदेव को नहीं जीत पाए, आपने उसको जीत लिया। उनकी परम्परा में उन महापुरुषों के साथ स्त्री का होना स्वीकार किया गया है। आपकी परम्परा में वह स्वीकार्य नहीं है। प्रभो! लगता है आपको कोई ऐसा मंत्र मिल गया था, जिससे आपने उस आग को बुझा दिया, बड़वानल को शांत कर दिया। बड़वानल को भी शांत किया जा सकता है यदि पानी के अतिरिक्त ऐसा कोई द्रव्य मिल जाए।

प्राचीन काल में जंगलों में आग बहुत लगती थी, आज भी लगती है। जयपुर में सन् २०१० में पेट्रोल के विशाल डिपो में इतनी भयंकर आग लग गई कि पानी डालने से भी वह नहीं बुझी। उसके लिए तो अन्य रासायनिक द्रव्य चाहिए। अगर उन द्रव्यों का प्रयोग होता तो शायद वह आग इतनी भयंकर और विनाशक नहीं होती। सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! आपको ऐसा कोई द्रव्य-पदार्थ मिल गया, जिससे आपने बड़वानल को भी बुझा दिया। यह सबके लिए आश्चर्य और खोज का विषय है कि वह क्या द्रव्य है जिससे ऐसी आग को शांत कर सकें। अग्नि को पानी से बुझाएं, यह बहुत कठिन बात नहीं है। किन्तु जल में आग लग गई, उसको कैसे बुझाएं? आप भी खोजें, मैं भी खोजूँ, हम सब खोजकर ऐसा तत्त्व पा लें तो सचमुच हमारा जीवन कल्याण का मंदिर हो जाएगा।

१२. प्रभाव महापुरुष का

वह लेखन, वक्तव्य, चिंतन, स्तवन महत्त्वपूर्ण होता है, जहां केवल शब्दों का जाल नहीं होता, किन्तु शब्दों के पीछे कोई रहस्य छिपा होता है। जो सामने है उसे सब जानते हैं, बताने की जरूरत नहीं होती। वह तथ्य बताएं, जिसे हर आदमी नहीं जानता। वही कवि या पण्डित होता है जो रहस्यमय, छिपी हुई बात बताता है।

आचार्य स्तवन के माध्यम से अनेक रहस्यों का उद्घाटन कर रहे हैं। उन्होंने कहा—प्रभो! लोग आपको हृदय में स्थापित कर तर जाते हैं। आश्चर्य इस बात का है कि वे कैसे तर जाते हैं? आपके भीतर इतनी गुरुता है, इतना गुरुत्व है कि हजार हाथी मिल कर भी आपको नहीं उठा सकते। दूसरी ओर लोग आपको हृदय में बिठाकर तर जाते हैं।

स्तुतिकार स्तुति करता है तो एक-एक गुण का विश्लेषण करता है। सूक्ष्मता के साथ हर गुण को देखता है। आचार्य के सामने एक विकल्प आ गया—समुद्र में तैरने वाला, नदी और तालाब में तैरने वाला हृदय पर भार बांध कर तैर नहीं सकता, डूब जाता है। हलका होकर, खाली होकर जाता है तो तर जाता है। शिला बांध ली, कोई भारी चीज बांध ली तो डूब जाएगा। हलकी चीज तो तैरा सकती है, पर भारी चीज तैरा नहीं सकती। वस्तुतः भारी चीज को लेकर चलना बड़ा कठिन होता है।

एक बार नालन्दा में कुछ विद्वान् बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए आए। अध्ययन संपन्न कर नौका से श्रीलंका जा रहे थे। समुद्र के मध्य नौका डगमगाने लगी। नाविक बोला—‘नौका पर भार इतना ज्यादा हो गया है कि कम से कम एक आदमी को तो उतरना ही पड़ेगा।’

विद्वान्—‘क्या कोई दूसरा उपाय नहीं है?’

नाविक—‘पुस्तकों का भार भी बहुत अधिक है। यदि इन्हें समुद्र में डाल दो तो हम पार पहुंच जाएंगे।’

८४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

सबने विचार किया कि क्या करें? क्या समुद्र में पुस्तकें फेंक दें? इतने वर्षों का सारा श्रम व्यर्थ चला जाएगा। इतने वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय, जो भारत का बहुत बड़ा शिक्षण केन्द्र है, में हमने पढ़ाई की। इस ज्ञानराशि को कैसे नष्ट करें?

एक समय था—नालन्दा विश्वविद्यालय और तक्षशिला विश्वविद्यालय में भारतीयों के साथ-साथ विदेशी लोग पढ़ने आते थे। आजकल भारत के लोग बाहर पढ़ने जाते हैं। विद्यार्थियों ने सोचा—ये ग्रंथ हमारे आधार हैं, इनको हम समुद्र में कैसे डालें? इन्हें हम पानी में नहीं फेंक सकते।

एक विद्यार्थी खड़ा हुआ, बोला—‘चिन्ता मत करो। पुस्तकें हमारी ज्ञानराशि हैं। वे सुरक्षित रहेंगी। हमें इस ज्ञानराशि से लोगों को पढ़ाना है। हम पढ़ने वाले भी सुरक्षित रहेंगे।’

‘लेकिन यह कैसे होगा?’

‘मैं तैरना जानता हूँ।’ यह कहते हुए वह समुद्र में कूद गया।

भारी वस्तु को लेकर चलना कठिन होता है। चाहे कार हो, ट्रेन हो, वायुयान हो या जलपोत, इन सबमें भार-वहन की क्षमता की एक सीमा होती है। सीमा से अधिक भार रखा जाए तो वाहन अथवा जलपोत के विनाश का खतरा बना रहेगा।

प्रभो! आप अनल्प गरिमा वाले हैं। दुनिया की भारी वस्तुओं में सबसे ज्यादा वजन आपकी गरिमा का है। उस वजन को हृदय में धारण कर संसार समुद्र से कैसे तरेंगे? व्यक्ति हलका होकर तर सकता है। पर इतनी भारी चीज को अपने हृदय में लेकर कैसे तर पाएगा? यह एक बड़ा प्रश्न है।

आपके मन में भी आश्चर्य हो रहा होगा कि पार्श्व प्रभु इतने भारी हैं, उनकी गरिमा इतनी ज्यादा है, उसे हृदय में कैसे बिठाया जा सकता है? हृदय का मतलब है मस्तिष्क, उस पर आपको बिठाकर तरना है। और वह भी कोई साधारण समुद्र नहीं, संसार समुद्र है, जन्म-मरण का समुद्र है, उसे कैसे पार कर सकते हैं?

आचार्य उलझ गए, उन्होंने गहरा चिंतन किया। इन प्रश्नों का समाधान बाहर से नहीं, भीतर से मिलता है। भीतर गए, आंखें मूंदकर ध्यान किया। चिंतन को बंद कर शब्दों की दुनिया से परे चले गए। शब्दों के संसार में

प्रभाव महापुरुष का ८५

समाधान कम होते हैं। जो शब्दों के पार मौन में चला जाता है, अशब्द में चला जाता है, वहां समाधान जल्दी मिलता है। अधिकांश सचाइयां अशब्द में से प्रकट होती हैं। शब्द के जगत् में सीमित सचाइयां प्रकट होती हैं। बड़ी सचाइयां अशब्दावस्था में ही प्रकट होती हैं।

संभवतः स्तुतिकार ने चिंतन से परे, शाब्दिक दुनिया से परे जाकर ध्यान किया और समाधान मिल गया—मैं क्यों उलझा? मुझे उलझने की क्या जरूरत है? मैंने पार्श्व को साधारण क्यों समझ लिया?

‘महतामचिन्त्यप्रभावः’ महान् आदमी का प्रभाव अचिन्त्य होता है, उसके बारे में कोई चिंतन नहीं किया जा सकता, कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता।

गुजरात का एक संभाग है सौराष्ट्र। एक बार वहां अकाल पड़ गया। प्रजा दुःखी हो गई। जब-जब अकाल होता है तब-तब आदमी भी दुःखी होते हैं और पशु भी। जब हम लाडनूं में थे तब सुजानगढ़ से भाई आए, बोले—अभी वहां कोबरा सांपों का बड़ा उपद्रव हो रहा है। मैंने पूछा—क्यों हो रहा है?

उन्होंने कहा—‘अकाल के कारण वर्षा नहीं हो रही है। पानी का अभाव है। मेढक और चूहे पैदा नहीं हो रहे हैं। सांप का भोजन है—मेढक और चूहा। उन्हें खाने को पर्याप्त भोजन नहीं मिल रहा है इसलिए शहर में आ रहे हैं। अकाल के कारण सारी स्थिति बिगड़ रही है।’

आजकल साधन-सामग्री की व्यवस्था सरकार करती है, आसपास से भी प्राप्त हो जाती है। प्राचीन काल में जब बारह वर्ष तक अकाल पड़ा, उस समय हजारों जैन साधुओं को भिक्षा मिलनी दुर्लभ हो गई। समस्याएं पैदा हो गईं।

सौराष्ट्र के लोग बड़े चिन्तित थे। राजा ने काफी यज्ञ कराए, अनुष्ठान कराए, पर वर्षा नहीं हुई। राजा ने नागरिकों को बुलाया और कहा—बोलो, क्या करें? क्या उपाय करें? सारी प्रजा दुःखी हो रही है। राजा प्रजा हितैषी था, प्रजा की पूरी चिंता करता था। एक वृद्ध अनुभवी नागरिक ने कहा—‘राजन्! नगर में तुलाधर व्यापारी है। अगर वह चाहे तो वर्षा करवा सकता है।’ महाभारत में भी तुलाधर व्यापारी का उल्लेख मिलता है। राजा ने तुलाधर व्यापारी को बुलाया।

८६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

राजा ने कहा—‘तुलाधर! अकाल के कारण प्रजा बड़ी दुःखी है। मुझे ज्ञात हुआ है कि तुम चाहो तो वर्षा हो सकती है।’

तुलाधर बोला—‘महाराज! मैं साधारण व्यापारी हूँ। यह मेरे वश की बात नहीं है। यह तो इन्द्रदेव के वश की बात है।’

राजा—‘नहीं, तुम्हें इस दुःख को मिटाना होगा।’

तुलाधर—‘राजन्! आपका आदेश है तो मैं प्रयत्न करूँगा।’

तुलाधर बाजार में आया, दुकान पर खड़ा हो गया। तराजू हाथ में लिया, ऊपर उठाया और बोला—‘हे इन्द्रदेव! मेरी बात सुनो! मैंने इस तराजू से कभी झूठा तौल-माप किया हो तो मुझे दण्ड देना और न किया हो तो वर्षा करनी होगी।’ तुलाधर की संकल्प-शक्ति से चमत्कार जैसा हो गया। देखते ही देखते आकाश बादलों से घिर गया और मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई। यह कैसे हुआ? आज वैज्ञानिक खोज का विषय हो सकता है।

आचार्य कह रहे हैं—महान् व्यक्तियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है, वहां वैज्ञानिक, विद्वान्, कवि भी नहीं पहुंच सकते। हमारे सामने भी ऐसी बहुत सारी घटनाएं आती हैं, अमुक हो गया, अमुक हो गया। कई लोग पूछते हैं—महाराज! यह सब कैसे हो गया? उनको यही उत्तर देना चाहिए कि जहां महान् व्यक्तियों का प्रभाव है, वहां बहुत कुछ अचिन्त्य घटित हो सकता है।

आचार्य तुलसी उत्तरप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। लखनऊ उत्तरप्रदेश की राजधानी है। वहां हमारा प्रवास था। उत्तरप्रदेश में गर्मी भयंकर होती है। वहां के गर्म थपेड़ों से बहुत लोग मरते हैं। गर्मी भयंकर थी। शाम के समय प्रस्थान करना था। सब साधु तैयार हो गए। इतने में एक साधु आया, बोला—‘गुरुदेव! मुनि जसकरणजी और मुनि मिलापचंदजी की हालत गंभीर है। वे चल नहीं सकते। सोए हुए हैं।’ गुरुदेव ने उनको दर्शन दिए, पूछा—‘क्या बात है? वे बोले—‘गुरुदेव! मेरी शारीरिक स्थिति ठीक नहीं है, पता नहीं शरीर रहे या न रहे पर एक प्रार्थना करता हूँ कि आप मुनि मिलाप का ध्यान रखना।’ मुनि जसकरणजी और मुनि मिलापचंदजी दोनों काफी साथ रहे और परस्पर बड़ा अच्छा संबंध था। गुरुदेव ने कहा—‘मिलाप की चिन्ता मत करो, तुम ठीक हो जाओ।’ गुरुदेव ने मुनि मिलापचंदजी को दर्शन दिए, पूछा—‘क्या बात है? विहार करना है?’

प्रभाव महापुरुष का ८७

वे बोले—‘गुरुदेव! मेरी स्थिति ऐसी बनी हुई है कि मेरा तो कुछ पता नहीं है। गुरुदेव! अगर मेरे कुछ हो जाए तो जसकरणजी स्वामी का ध्यान रखना।’

गुरुदेव ने एक संत से कहा—‘रजोहरण लाओ।’ संतों ने रजोहरण गुरुदेव के हाथ में थमाया। गुरुदेव ने रजोहरण के दो धागे तोड़े, कुछ जप-ध्यान किया और कहा—दोनों के हाथ पर बांध दो। धागे बांध दिए। दस मिनट में दोनों खड़े हो गए और कहा—हमारे विहार की तैयारी है।

प्रश्न हो सकता है—यह कैसे हुआ? उत्तर यही होगा—अचिन्त्यो महतां प्रभावः। महान् आदमी के प्रभाव की कोई कल्पना नहीं कर सकता। चिंतन की बात नहीं कि कैसे हुआ? इतना ही कि बस हो गया।

आचार्य सिद्धसेन भी जब शब्दों की दुनिया से, चिंतन से परे गए तो समाधान मिल गया, बोले—मैंने अनावश्यक प्रश्न और विकल्प खड़ा कर दिया कि यह कैसे होता है? इसमें चिंतन की कोई बात नहीं है। आपका प्रभाव इतना है कि उसके बारे में न विचार कर सकता हूं, न चिंतन कर सकता हूं और न व्याख्या कर सकता हूं।

नियम दो प्रकार के होते हैं—सामान्य नियम और विशेष नियम। हम सामान्य नियम को जानते हैं, विशेष नियम को नहीं। अनुयोगद्वार सूत्र में आया है—तलवार चलाओ, वस्तु कट जाएगी। परमाणु को सामने रख दो फिर तलवार चलाओ, क्या परमाणु कट जाएगा? **नो इण्ट्रे समट्टे**—परमाणु नहीं कटेगा। वह इतना सूक्ष्म है कि तलवार का विषय ही नहीं है। यह सामान्य नियम है कि तलवार काट सकती है। यह विशेष नियम है कि तलवार सबको नहीं काट सकती, परमाणु को नहीं काट सकती। आग जला सकती है, पर परमाणु को नहीं जला सकती। परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य होता है।

सूक्ष्म जगत् का नियम अलग होता है और स्थूल जगत् का नियम अलग। स्थूल जगत् का नियम है कि कोई भारी भरकम चीज बांध कर समुद्र में तैरना चाहे तो डूब जाएगा। सिद्धसेन कह रहे हैं—प्रभो! आप दुनिया में सबसे वजनदार हैं, भारी हैं, गरिमा वाले हैं। आप पर वह नियम लागू नहीं होता। आपके लिए दूसरा नियम है और वह नियम है—**महतां प्रभावः**—महान् आदमी का प्रभाव अचिन्त्य होता है। उसके बारे में कोई सोच नहीं सकता कि कैसे होगा? जहां महानता आती है, चाहे साधना के द्वारा आए, चाहे कला के द्वारा

आए, चाहे अभ्यास के द्वारा आए, कोई विशिष्टता आ जाती है। वहां सामान्य नियम लागू नहीं होता।

सेनापति रथिक कोशा को अपनी प्रेयसी बनाना चाहता था। उसने कोशा के प्रियतम स्थूलिभद्र के बारे में कुछ बातें कही। कोशा ने कहा—तुम स्थूलिभद्र की तुलना करते हो और तुम यह चमत्कार दिखाते हो कि एक बाण चलाऊंगा तो सारे पत्तों को बींध डालूंगा। यह चमत्कार दिखा कर भी स्थूलिभद्र की बराबरी नहीं कर सकते। तुम मेरी कला भी देखो।

सरसों का ढेर था, खाट के बराबर। कोशा खाट पर नृत्य करते-करते सीधी सरसों के ढेर पर गई, उस पर नृत्य किया पर एक भी दाना इधर-उधर नहीं हुआ।

कोशा ने कहा—न एक बाण से सारे पत्तों को भेदना दुष्कर है और न सरसों के ढेर पर नृत्य करना दुष्कर है। दुष्कर वह है जो स्थूलिभद्र ने मेरे पास रहकर किया। उनकी महानता अव्याख्येय है।

महान् व्यक्ति का प्रभाव अचिन्त्य होता है, अव्याख्येय होता है, अव्याकृत होता है, उसका व्याकरण नहीं किया जा सकता। इस नियम को ध्यान में रखकर आपके इन गुणों को देखता हूं तो मुझे इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं लगती कि एक भक्त-हृदय व्यक्ति गुणों से भारी भरकम आपके व्यक्तित्व को हृदय में धारण कर संसार-समुद्र को तर जाता है।

बड़ी सूक्ष्मता के साथ आचार्य ने अर्हत् पार्श्व के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है और अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। केवल स्तुति नहीं, गुणानुवाद नहीं, उसके साथ रहस्यों का उद्घाटन करना बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'यदि वा' का अर्थ है पक्षान्तरे, जहां विपक्ष में दूसरा पक्ष देना हो वहां व्याख्या बदल जाती है। यह सामान्य नियम का अपवाद है—भारी चीज को लेकर कोई तैर नहीं सकता, डूब जाता है। आप इतने भारी हैं फिर भी भक्त आपको लेकर तर जाता है, इसका कारण एक ही है और वह है अचिन्त्य। जहां अचिन्त्य है वहां असंभव कुछ नहीं होता। हम लोग रोज बोलते हैं—

**विघ्न हरण मंगल करण, स्वामि भिक्षु रो नाम।
गुण ओलख सुमिरण करे, सरै अचिन्त्या काम॥**

प्रभाव महापुरुष का ८६

जिसके बारे में कोई कल्पना नहीं की जा सकती, चिंतन नहीं किया जा सकता, व्याख्या नहीं की जा सकती, महापुरुषों के प्रभाव के कारण वह सब कुछ घटित हो जाता है। कुछ घटनाएं ऐसी आती हैं जिनके बारे में कहा नहीं जा सकता, यह कैसे हुआ? हो गया। बस हो जाता है। होता है पर कैसे होता है यह बताया नहीं जा सकता।

आचार्य ने भी इस विकल्प से समाधान पा लिया—महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। सामान्य व्यक्ति में उसके विश्लेषण की क्षमता नहीं होती।

१३. कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया?

आचार्य सिद्धसेन भगवान् पार्श्व की स्तुति में लीन हो रहे हैं। साथ-साथ विकल्प भी उठ रहे हैं, प्रश्न भी उठ रहे हैं। प्रश्नों के क्रम में एक प्रश्न उठा—भगवन्! मैंने पढ़ा है, सुना है, जाना है कि आपने कर्म चोरों का नाश कर दिया। कर्म चोर हैं, वे मनुष्य के स्व को चुराते रहते हैं।

मनुष्य का अपना स्व क्या है? अपना धन क्या है? क्या पदार्थ का धन उसका स्व है? जैसे साधु का अपना स्व होता है—ज्ञान, दर्शन, तप। गृहस्थ का स्व—पैसा, मकान आदि माना जाता है। आत्मा का स्व, आत्मा का धन है—अनंत ज्ञान, अनंत आनंद और अनंत शक्ति। कर्म रूपी चोर आत्मा का धन चुरा लेते हैं। आपने उन चोरों को भगा दिया, समाप्त कर दिया। दूसरी ओर मैंने सुना है कि आपने क्रोध को शांत कर दिया। इन दोनों बातों में संगति नहीं है।

कोई आदमी किसी को मारेगा तो आवेश या क्रोध के बिना नहीं मार सकता। चार कषाय हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। अहंकार के आवेश से अकड़न हो सकती है, पर किसी को मार नहीं सकता। क्योंकि हर आवेश के साथ जो शारीरिक या नाडीतंत्रीय क्रिया होती है वह अलग-अलग प्रकार की होती है। व्यक्ति के मन में घृणा का भाव होता है तो शारीरिक क्रिया अलग होती है, नाडीतंत्र का अलग रूप बनता है। लोभ के समय अलग प्रकार की क्रिया होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह अध्ययन किया गया कि किस प्रकार की क्रिया से किस प्रकार के रसायन बनते हैं।

अहंकार, माया और लोभ की क्रिया भीतर होती है, बाहर प्रकट नहीं होती। मन में लोभ की चेतना होने पर व्यक्ति सोचता है कि इसका धन गबन करूं, जमा करूं, पर उसका हाथ नहीं उठेगा। हाथ कब उठेगा जब क्रोध आएगा। लोभ, माया और अहंकार—इन सबको प्रकट करने वाला क्रोध है। क्रोध के आवेश में हाथ उठता है, शस्त्र उठता है और आदमी किसी को मारता है।

कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया? ६१

प्रभो! सबसे पहले आपने क्रोध का नाश कर दिया। क्रोध नहीं रहा तो फिर आपने कर्म चोरों को कैसे मारा?

हम शास्त्रीय दृष्टि से देखें। जब गुणस्थानों का क्रमारोह होता है, श्रेणी का आरोहण होता है उस समय क्रोधादि पहले विनष्ट हो जाते हैं, और कर्मों का क्षय बाद में होता है। यह प्रश्न बिलकुल दार्शनिक है, सैद्धांतिक और व्यावहारिक भी है कि क्रोध के बिना शत्रुओं का नाश कैसे हुआ?

यह धारणा भी प्रचलित है कि क्रोध के बिना प्रशासन नहीं किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान का शिविर हो रहा था, मैंने क्रोध के विषय में चर्चा की। उस शिविर में एक प्रशासनिक अधिकारी आए हुए थे, उन्होंने कहा—‘आप कहते हैं क्रोध मत करो। यह हमारे लिए कठिन काम है, फिर तो प्रशासन को चलाना ही कठिन हो जाएगा।’ एक मान्यता बन गई—क्रोध के बिना प्रशासन नहीं चलता। क्रोध के बिना अपनी बात को मनवाया नहीं जा सकता और क्रोध के बिना किसी को मारा भी नहीं जा सकता। हो सकता है इस धारणा में कहीं-कहीं कुछ अंशों में सचाई भी हो, पर पूरी सचाई तो नहीं है। क्रोध के बिना बहुत अच्छा प्रशासन चल सकता है, बहुत अच्छा काम हो सकता है।

स्तुतिकार के मन में प्रश्न हो गया कि आपने कर्म चोरों का विनाश किया है, ध्वंस किया है, उनको हत-प्रहत किया है। जब आपके भीतर क्रोध ही नहीं था तो उन्हें नष्ट कैसे किया? यह प्रश्न केवल सिद्धसेन के मन में ही नहीं, अनेक आचार्यों के मन में उत्पन्न हुआ। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग स्तोत्र में लिखा—प्रभो! आपने राग के बिना मुक्ति का भोग किया है और द्वेष के बिना कर्म शत्रुओं का विनाश किया है। महान् आत्माओं की महिमा अलौकिक होती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने जो कहा, वही बात जयाचार्य ने अपनी चौबीसी में लिखी।

**प्रभु नेमस्वामी! तू जगनाथ अन्तर्यामी।
रागरहित शिवसुख स्युं प्रीत, कर्म हणै बलि द्वेष रहीत।**

आपकी शिव-सुख यानी मुक्ति के सुखों के साथ प्रीति है पर राग नहीं है। आपने कर्म शत्रुओं का विनाश किया है, पर द्वेष रहित होकर किया है। यह विरोधाभास महापुरुषों के जीवन में घटित होता है।

६२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

मैं समझ नहीं रहा हूँ कि आचार्य स्तवना कर रहे हैं या संवाद कर रहे हैं या प्रश्नोत्तर कर रहे हैं। स्तवना करने वाला स्तुति या गुणगान करता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक विलक्षण स्तवना है, जिसमें प्रश्नोत्तर कर आचार्य भगवान् को भी उलझन में डाल देना चाहते हैं कि आपने यह सब कैसे किया? इसका हमें स्पष्टीकरण दें। अन्यथा हम नहीं मानेंगे कि आपने कर्मों को नष्ट कर दिया।

आचार्य ने प्रश्न पूछ लिया पर कठिनाई यह थी कि प्रश्न करने वाला इस धरती पर था और उत्तर देने वाला लोकोत्तर में। दूरी बहुत थी। ऐसे किसी उपकरण का विकास भी नहीं हुआ था जो इस दूरी को मिटा सके। आज अनेक उपकरणों का विकास हुआ है। एक आदमी यहां बैठा वीडियो कॉन्फ्रेंस के माध्यम से दूरस्थ व्यक्ति को देख लेता है और बात भी कर लेता है। आचार्य के पास वीडियो कॉन्फ्रेंस करने का कोई साधन नहीं था। वह होता तो दूरी समाप्त हो जाती पर उनके पास कोई उपकरण नहीं था। प्रश्न कर लिया, उत्तर मिला नहीं। सोचा—क्या करूँ?

आचार्य सिद्धसेन स्वयं ध्यान-लीन हो गए। किसी प्रश्न का उत्तर पाना है और किसी से सम्पर्क करना है तो उसका एक प्रमुख साधन है—ध्यान। ध्यान से सम्पर्क हो सकता है। मैंने श्रमण महावीर पुस्तक में लिखा—‘मैंने अनेक आचार्यों से सम्पर्क किया।’ अनेक लोगों ने प्रश्न किया—आपने सम्पर्क कैसे किया? वे सब तो बहुत दूर हैं, देवलोक में चले गए फिर सम्पर्क कैसे किया? मैंने कहा—‘सम्पर्क करने की योग में एक विधि है, प्रक्रिया है। उसके द्वारा महान् आत्माओं के साथ सम्पर्क किया जा सकता है।’

एक प्रत्यक्ष घटना बता रहा हूँ। आचार्य तुलसी दिल्ली में विराज रहे थे। बहुत प्रकार के लोग गुरुदेव के पास आते थे। व्यापक कार्यक्रम था। एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी आया, गुरुदेव के पास बैठ गया। मैं भी गुरुदेव के पास बैठा था।

व्यक्ति की पहचान चेहरे से होती है। एक राजस्थानी दोहा है—

भय चिन्ता आलस अमन, सुख-दुःख हेत अहेत।

मन महीप के आचरण, दृग्-दीवान कह देत।।

इस आदमी के मन में भय है, चिन्ता है। यह आदमी आलसी है। यह आदमी सुखी है। इसके मन में प्रेम है अथवा शत्रुता है—ये सब मन रूपी राजा

कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया? ६३

के आचरण हैं। यह आंख रूपी दीवान इनको प्रकट कर देता है। पूछने की जरूरत नहीं है। चेहरा सब कुछ बता देता है।

हमने देखा—उस व्यक्ति का चेहरा मुरझाया हुआ था। मैंने कहा—‘आप कैसे लग रहे हैं?’

उसने कहा—‘मैं बड़ा दुःखी हूँ।’

‘दुःख का कारण क्या है?’

आचार्यश्री! एक ही बेटा था, होशियार था, बड़ा अच्छा था। उसका स्वर्गवास हो गया। मैं जानता हूँ कि वह वापस नहीं आएगा। पर एक बार उसके साथ मेरा संपर्क हो जाए इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। आप ऐसा कोई उपाय सुझाएं जिससे मेरा उसके साथ संपर्क हो जाए।’

प्रश्न सबके मन को झकझोरने वाला था। गुरुदेव तुलसी ने मुझे कहा—एकान्त में इसे प्रयोग कराओ। मैंने उसे प्रयोग कराया। उसने तन्मयता से प्रयोग किया। चला गया।

एक महीने बाद वह आया। मैंने देखा—उसका चेहरा प्रसन्न था। गुरुदेव के पास गया, लोग बैठे थे। आते ही वह बोला—‘आचार्यजी! मेरा दुःख समाप्त हो गया।’

मैंने पूछा—‘क्या हुआ?’

‘आचार्यजी! बेटे से मेरा सम्पर्क स्थापित हो गया।’

मृतात्मा के साथ भी सम्पर्क किया जा सकता है। संभव है आचार्य सिद्धसेन ने भी अपनी प्रयोगशक्ति से भगवान् पार्श्वनाथ से सम्पर्क कर लिया और बोले—मेरा समाधान हो गया।

स्तुतिकार बड़े कुशल कवि हैं। उन्होंने रास्ता भी खोज लिया। यह तथ्य है—जो व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति का अध्ययन करता है उसको रास्ता मिल जाता है और जो प्रकृति का अध्येता नहीं होता, वह न अच्छा कवि हो सकता है, न अच्छा साहित्यकार हो सकता है और न अच्छा आध्यात्मिक हो सकता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखना और उसमें से निष्कर्ष निकालना, सार निकालना बहुत महत्त्व की बात है।

सिद्धसेन कह रहे हैं—प्रभो! मैं इस प्रश्न में उलझा हुआ था कि क्रोध के बिना शत्रुओं को कैसे मारा जा सकता है? क्या हिमानी पूरे जंगल

६४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

को नहीं जला देती? हिमपात का नाम है—हिमानी। जब भयंकर हिमपात होता है, हरे-भरे पेड़ समाप्त हो जाते हैं। राजस्थान में कहते हैं—‘सीओ दाहो पड्यो, पेड़ जल गया।’ जहां बर्फ पड़ती है, जंगल समाप्त हो जाते हैं। क्या ठण्डी चीज किसी को समाप्त नहीं कर सकती? आपका क्रोध समाप्त हो गया और शीतलता आ गई किन्तु क्या आपकी शीतलता कर्म चोरों को समाप्त नहीं कर सकती?

मैं मानता हूँ शीतल प्रकृति से गर्म स्वभाव को जितना शांत किया जा सकता है, उतना गर्मी से नहीं किया जा सकता। एक आदमी क्रोध से उबला हुआ आपके पास आता है और आप शांत रहें तो उसका क्रोध भी शांत हो जाएगा। सोचेगा—अरे! मैं इतना बोल रहा हूँ। यह तो बिलकुल शांत और मौन बैठा है। वह स्वतः शांत हो जाएगा।

प्रभो! आपने क्रोध के बिना कर्म चोरों का विनाश कर दिया। अब इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगता।

स्वयं का प्रश्न, स्वयं का समाधान। यह समाधान हमें भी खोजना है। यह धारणा न रहे कि गुस्से के बिना जीवन का काम नहीं चलता। ठण्डक से भी काम चलता है। हिमपात भी इतना कर सकता है तो फिर गुस्से की जरूरत क्या है? यह धारणा मन से निकाल दी जाए कि गुस्सा करना जरूरी है। शांति से बहुत अच्छा काम चलाया जा सकता है। धर्मसंघ का शासन हो, राजनीति का शासन हो, परिवार का शासन हो या संस्था का शासन हो—कुछ भी काम हो, शांति के साथ बहुत अच्छे ढंग से सारा कार्य किया जा सकता है और उसका अच्छा परिणाम आता है। क्रोध से जो होगा, वह प्रतिक्रिया पैदा करेगा और शांति से जो होगा वह प्रतिक्रिया नहीं, आत्मीयता पैदा करेगा।

पार्श्व की स्तवना के माध्यम से एक बहुत सुन्दर दर्शन व रहस्यपूर्ण संबोध आचार्य ने प्रस्तुत कर दिया। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए मननीय और अनुशीलनीय है।

१४. कहां करें परमात्मा की खोज

आचार्य के मन में एक प्रश्न और पैदा हो गया—प्रभो! योगी लोग आपके परमात्मरूप को सदा अपने हृदय के कमलकोश में देखते हैं। किसी गूढ़ या अदृष्ट वस्तु को देखने का स्थान है हमारा हृदय-कमल। कमल शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर होता है, जैसे—नयन-कमल, मुख-कमल, हृदय-कमल, कर-कमल, नाभि-कमल, चरणकमल। कमल निर्मलता का प्रतीक है। वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता, पवित्र रहता है।

प्रभो! योगी लोग सदा आपको हृदय-कमल में देखते हैं। आप मोक्ष में चले गए, ऊर्ध्वलोक में चले गए। अगर आप यहां होते तो आपको देख लेते। आप तो ऊपर बैठे हैं। हम यहां खोज रहे हैं। क्या यह भ्रान्ति नहीं है?

आचार्य एक के बाद एक प्रश्न पूछते जा रहे हैं। भगवान् पार्श्व मौन हैं। उनके पास बोलने का कोई साधन ही नहीं है। वे अशरीरी हैं और अशरीरी के पास बोलने का कोई साधन नहीं होता। वही बोल सकता है जिसके पास साधन होता है। औरों की बात छोड़ दें, देवता भी बोल नहीं सकते।

बहुत लोग कहते हैं, आज अमुक देवता बोला। मैं कहता हूं—देवता के पास बोलने का साधन ही नहीं है। वही बोल सकता है, जिसके पास स्वरयंत्र होता है। देवता के पास स्वरयंत्र नहीं है। स्वरयंत्र औदारिक शरीर में ही होता है। वैक्रिय शरीर में स्वरयंत्र नहीं होता। वहां न अस्थि होती है, न मज्जा, न स्नायु, न रक्त, न मांस—कुछ भी नहीं होता। देवता के कोई संहनन नहीं होता, अस्थि-रचना नहीं होती। उसके अभाव में स्वरयंत्र भी नहीं होता। देवता किसी दूसरे माध्यम से बोलते हैं। देवताओं के भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति एक ही मानी गई है। मनुष्य में छः पर्याप्तियां पाई जाती हैं। देवताओं को भाषा पर्याप्ति की जरूरत नहीं है। वे मन से ही सारी बात कर लेते हैं।

यहां स्तुतिकार ने एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया है—आत्मा की खोज कहां करें? हृदयाम्बुज में। परमात्मा की खोज कहां करें? हृदयाम्बुज में। हृदय शब्द का अर्थ थोड़ा भिन्न हो सकता है। हृदय का एक अर्थ धड़कने वाला

६६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

हृदय किया जाता है। हमारी दृष्टि में हृदय का अर्थ है मस्तिष्क का एक भाग हाइपोथेलेमस।

शरीर में सबसे महत्वपूर्ण और सुन्दर स्थान है मस्तिष्क। मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तिष्क के दो भाग हैं बायां पटल और दायां पटल। बायां पटल लौकिक जीवन चलाने के लिए, लौकिक विद्या के लिए जिम्मेदार है। हमारा दायां पटल गूढ़ विद्या, रहस्य विद्या, अध्यात्म विद्या का क्षेत्र है। प्रभु की खोज करनी है, आत्मा की खोज करनी है, अर्हत् की खोज करनी है तो जो लोकोत्तर हिस्सा है उसे जाग्रत् करना होगा।

सामान्य आदमी अन्वेषण करना नहीं जानता, खोज करना भी नहीं जानता। जो योगपरायण हो गया है, योग में सिद्ध हो गया है वही खोजेगा कि आत्मा कहां है? आत्मा और शरीर का मिलन बिन्दु कहां है? संगमस्थल कहां है? कवि ने यह नहीं कहा कि सामान्य आदमी खोज करता है। एक सार्थक विशेषण है कि आत्मा की, परमात्मा की खोज योगी करेगा। क्योंकि उसने इस स्थान को पहचान लिया है।

भारतीय ऋषियों ने इसकी खोज की है और पश्चिमी दार्शनिकों ने भी खोज की है। रेने देकार्त, जिसे पश्चिमी दर्शनों का जनक माना गया है, पीनियल ग्लैण्ड को आत्मा का स्थान मानते हैं। मन में प्रश्न आया कि शरीर में आत्मा का स्थान कौन सा है? खोज के बाद बताया गया कि वह स्थान है पीनियल ग्लैण्ड। मस्तिष्क के दो हिस्से हैं पीनियल और पिट्यूटरी। पीनियल ग्लैण्ड—यह आत्मा का केन्द्र स्थान है।

सिद्धसेन ने कहा कि प्रभो! योगी लोग आपकी खोज हृदय के कमल-कोश में करते हैं, वहीं उसका दर्शन होगा। दूसरी जगह खोजोगे तो मिलेगा भी नहीं।

एक सुन्दर उपमा के द्वारा स्तुतिकार ने अपनी बात की पुष्टि की है। अक्ष शब्द का प्रयोग सामान्यतः धुरी के लिए किया जाता है किन्तु आचार्य ने अक्ष शब्द का प्रयोग कमल-बीज के लिए किया है। मालव देश में यह कमल-बीज के लिए प्रसिद्ध है। यह देश विशेष का शब्द था। संभवतः संस्कृत कोश में इसका यह अर्थ बाद में आया है। ऐसा लगता है कि स्तुतिकार का संबंध मालव देश से था।

अब प्रश्न यह है कि कमल-देश का स्थान कैसा है? वह स्थान निर्मल रुचि वाला है, पूत है, पवित्र है। कमल की कर्णिका के सिवाय अक्ष का कोई

कहां करें परमात्मा की खोज ६७

स्थान नहीं होता। **संभविपदं**—उत्पत्ति स्थान कौन सा है? कमल की कर्णिका। उस कर्णिका के सिवाय कमल का बीज कहां रहेगा? उसके लिए वही पवित्र और निर्मल रुचि वाला बीज है। उस बीज को वहीं खोजा जा सकता है। आचार्य ने अपनी बात का एक साहित्यिक भाषा में, काव्य की भाषा में सुंदर समर्थन कर दिया और एक रहस्यपूर्ण बात भी बतला दी कि ध्यान करना हो तो कहां करें? आत्मा की खोज करनी हो तो कहां करें? हृदयाम्बुज कोश देश में। यह शांतिकेन्द्र का स्थान है। यहीं आत्मा की खोज करो, ध्यान करो।

पार्श्वनाथ अशरीरी हैं। आचार्य भी विचित्र हैं। उनसे पूछ रहे हैं—प्रभो! लोग आपके परमात्म रूप को हृदय-कमल में खोजते हैं। आप वहां हैं नहीं। तो क्या यह साधकों का भ्रम नहीं है? हम क्यों आपको खोज रहे हैं? आचार्य उलझते जा रहे हैं किन्तु किसी भी उलझन को सुलझाने की शक्ति भी उनमें थी। सुलझ गए, बोले—अक्ष का मतलब है—कमल। कमल के बीज का स्थान है कर्णिका। कमलबीज कर्णिका कोश में रहता है। वह वहीं होगा। आपका स्थान कौन सा होगा? हमारा हृदय-कोश ही होगा। आपका वहां ध्यान करते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आचार्य ने प्रश्न उपस्थित किया और उसका समाधान भी प्राप्त हो गया। प्रश्नकर्ता भी आचार्य और समाधानकर्ता भी आचार्य।

आचार्य ने एक योगी के लिए रहस्यपूर्ण बात, एक दार्शनिक के लिए रहस्यपूर्ण बात और एक काव्य रुचि के लिए उपमा के द्वारा काव्यात्मक बात कहकर अपने मंतव्य का समर्थन कर दिया।

१५. देह से विदेह की यात्रा

स्तुतिकार के सामने एक नया चित्र उपस्थित होता है। वे आश्चर्य के साथ कहना चाहते हैं—जो लोग आपका ध्यान करते हैं वे इस शरीर को छोड़कर परमात्मदशा में चले जाते हैं। देहं विहाय परमात्मदशां ब्रजन्ति—आपके ध्यान मात्र से वे शरीर को छोड़कर परमात्मदशा में कैसे चले जाते हैं? आश्चर्य है कि यह कैसे हो सकता है? इतना रूपान्तरण कैसे हो जाता है कि देह से विदेह बन जाए?

दो अवस्थाएं हैं—१. विदेहावस्था, २. सर्वथा देहमुक्त अवस्था।

इस शरीर के रहते हुए भी आदमी विदेह बन जाता है। शरीर के प्रति देहाध्यास छूट गया, आसक्ति छूट गई, ममत्व छूट गया, वह शरीर में रहता हुआ भी विदेह है। एक विदेहावस्था—संसार में होने वाली अवस्था है और दूसरी सर्वथा देहमुक्त अवस्था—शरीर-त्याग होने के बाद होने वाली अवस्था। मृत्यु के बाद शरीर छूटता है पर पूरा नहीं छूटता। यह स्थूल शरीर छूट जाता है पर सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्मतर शरीर—तैजस और कार्मण शरीर जीव के साथ निरंतर लगे रहते हैं।

विदेहावस्था, देहत्याग की वह अवस्था है, जहां सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर भी छूट जाता है। केवल आत्मा रहती है, शरीर का सर्वथा परित्याग हो जाता है। प्रभो! यह कैसे संभव हो सकता है? आप भी सोचें, कैसे हो सकता है?

कवि पदार्थ विज्ञान का भी ज्ञाता है। पदार्थ विज्ञान का यह सिद्धान्त कवि ने प्रस्तुत कर दिया—जब अग्नि के तेज ताप में गिर कर पारा सोना बन जाता है तो फिर आपके ध्यान से विदेह अवस्था क्यों नहीं प्राप्त हो सकती! एक वैज्ञानिक नियम प्रस्तुत कर दिया। प्राचीन काल में सोना बनाने की विधि प्रचलित थी। आनन्दघन जी की घटना प्रसिद्ध है। वे सोना बनाने की विधि जानते थे।

देह से विदेह की यात्रा ६६

दशवैकालिक सूत्र का पहला अध्ययन और उसकी पहली गाथा—

धम्मो मंगलमुक्किदुं, अहिंसा संजमो तवो।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

इस श्लोक में सोना बनाने की विधि भी है। इसका प्राचीन आचार्यों ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। अब हम विज्ञान की दृष्टि से सोना बनाने की विधि को देखें। पारा और सोना। पारे के अणु का भार है २००, सोने के अणु का भार है १९७। जब पारे के अणु को प्रोटीन के द्वारा तोड़ा जाता है तो पारे में एक अणु और मिल जाता है तो उसका भार २०१ हो जाता है। उस समय अल्फा का कण निकलता है जिसका भार चार होता है फिर पीछे १९७ (२०१-४=१९७) आते ही पारा सोना बन जाता है।

अगर पारा सोना बन सकता है तो फिर आपके ध्यान से कोई आदमी विदेह बन जाता है, परमात्मदशा को प्राप्त हो जाता है इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। स्तुतिकार ने भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त के द्वारा अपने आश्चर्य को समाहित कर लिया।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या भिन्न प्रकार से भी की जा सकती है। कल्याण मंदिर अर्हत् पार्श्व की स्तुति में रचा गया एक विचित्र स्तोत्र है, जिसमें स्तुति के माध्यम से अध्यात्म के अनेक रहस्यों को अभिव्यक्त किया गया है। अध्यात्म के रहस्यों को समझना बहुत कठिन काम है किन्तु आचार्य ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के माध्यम से स्तवना की और अनेक रहस्यों का उद्घाटन कर दिया।

अध्यात्म तक पहुंचने के लिए ध्यान बहुत आवश्यक है। ध्यान के बिना चेतना का आरोहण नहीं हो सकता। आरोहण होता है ध्यान के द्वारा। श्रेणी आरोहण भी शुक्ल ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति में होता है। उस समय अध्यात्म का नया प्रकाश सामने आता है। आचार्य के मन में प्रश्न हो गया—भगवन्! संसारी व्यक्ति शरीर में रहना चाहता है। उसे शरीर सबसे ज्यादा प्रिय है। प्रियता पदार्थ के साथ भी होती है पर शरीर के साथ सबसे ज्यादा होती है क्योंकि वही सबसे निकट है। केवल वही चौबीस घण्टे साथ रहता है। आत्मा शरीर में रहता है। वह आत्मा का निवास-स्थान है। इतना निकट संबंध हो गया कि आत्मा और शरीर का भेद ही समाप्त हो गया। व्यक्ति यह नहीं मानता कि मैं अलग हूं और शरीर अलग है। दोनों में इतना एकत्व हो गया कि भेदरेखा

१०० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

खींचना भी मुश्किल है। जो शरीर है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ, वह शरीर है—यह सामान्य अवधारणा है। शरीर अलग है, मैं अलग हूँ—इस प्रकार का चिंतन करने वाला व्यक्ति अध्यात्म की दिशा में चला जाता है।

प्रभो! कोई व्यक्ति आपका ध्यान करता है, वह इस शरीर को छोड़कर परमात्मा बन जाता है। जो शरीर अनादिकाल से साथ चल रहा है, उसे छोड़ता है। अपने इतने बड़े साथी को जो एक जन्म से नहीं, पता नहीं कितने हजारों, लाखों, करोड़ों, असंख्य, अनन्त जन्मों से साथ चल रहा है, उस शरीर को छोड़ देना अच्छा कैसे होगा?

दूसरी बात यह है कि शरीर को छोड़कर वह परमात्मा कैसे हो सकता है? इतने दिन तो शरीर में रहा और अब परमात्मा बन गया। यह कैसे संभव होगा? जब तक तीव्र आग नहीं जलती, तब तक शरीर नहीं जलता। यह शरीर सामान्य आग से नहीं जलता। ऐसा तो होता है कि कोई आदमी आग की लपेट में आ गया, उसका शरीर झुलस गया। बाहर का शरीर जल गया पर भीतर का शरीर नहीं जला। पहले स्थूल शरीर है, उससे नीचे सूक्ष्म शरीर है, उससे भी नीचे सूक्ष्मतम शरीर है। ऊपर-ऊपर का शरीर जल गया, पर भीतर का शरीर नहीं जला और वह आग से कभी जलता नहीं है। कोई भी आग ऐसी नहीं जो भीतर के शरीर को जला सके। किन्तु प्रभो! आपके ध्यान में वह शक्ति है जो भीतर के शरीर को भी जला देती है। जब भीतर का शरीर जल जाता है तब जीव इस शरीर को छोड़ देता है, परमात्मदशा को प्राप्त हो जाता है, परमात्मा बन जाता है।

आत्मा से परमात्मा बनने का एक रास्ता है—ध्यान। ध्यान के द्वारा आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। पहले सूक्ष्म शरीर का मोह छोड़ा जाता है फिर अनुभव की यह स्थिति आ जाती है कि शरीर मेरा नहीं है। उपाध्याय विनयविजय जी ने शांत सुधारस भावना में इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। अध्यात्म तक पहुंचने के लिए दो रास्ते हैं।

एकत्व अनुप्रेक्षा—मैं अकेला हूँ।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा—आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है।

विनयविजय जी ने बहुत सुन्दर लिखा—**विनय! निभालय निजभवनम्—** अपने घर को देखो। आज हजारों-लाखों लोग नए-नए घर बना रहे हैं। हिन्दुस्तान में इन दस वर्षों में कितने घर बने हैं? पर अपना घर कितने लोगों

देह से विदेह की यात्रा १०१

ने बनाया है। सीमेंट, लौहा, ईंट, कंकरीट आदि मेटेरियल का उपयोग कर विशाल भवन तैयार कर लिए पर एक भी शाश्वत घर नहीं बनाया। वे ऐसे घर बनाते हैं जिन पर आज अधिकार होता है और कुछ समय बाद वह अपना नहीं रहता। पता नहीं, किनका अधिकार होता है। अपना वह है, जो कभी नहीं छूटता।

एक बड़ा साधक योगी राजमहल के सामने दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया। चौकीदार बोला—‘महाराज! क्या कर रहे हो?’

‘मैं अन्दर जाना चाहता हूँ।’

‘भीतर क्यों?’

‘क्योंकि मैं यहां रहना चाहता हूँ। मुझे स्थान चाहिए।’

चौकीदार—‘महाराज! यह धर्मशाला नहीं है। यह राजमहल है। आप यहां नहीं रह सकते।’

योगी—‘मैं तो यहीं रहूंगा। इसी धर्मशाला में रहूंगा।’

योगी की तेजस्वी वाणी सुनकर चौकीदार अवाक् रह गया। उसने राजा को स्थिति की अवगति दी। राजा स्वयं आया, नमस्कार कर बोला—‘महाराज! यह धर्मशाला नहीं है, राजमहल है।’

योगी—‘यह राजमहल किसका घर है?’

राजा—‘मेरा घर है।’

योगी—‘यह घर किसने बनाया?’

राजा—‘मेरे परदादा ने बनाया?’

योगी—‘क्या वे यहीं रहते हैं?’

राजा—‘महाराज! उनकी मृत्यु हो गई।’

योगी—‘फिर इसमें कौन रहा?’

राजा—‘मेरे दादा।’

योगी—‘वे कहां हैं?’

राजा—‘महाराज! वे भी चिरनिद्रा में सो गए।’

योगी—‘फिर कौन रहा?’

१०२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

राजा—‘मेरे पिताश्री।’

योगी—‘वे तो अभी विद्यमान होंगे?’

राजा—‘महाराज! वे भी इस दुनिया में नहीं रहे।’

योगी—‘राजन्! धर्मशाला और क्या होती है? आदमी आता है, बसेरा करता है, चला जाता है। तेरे परदादा ने बसेरा किया, चले गए। तेरे दादा और पिता ने बसेरा किया, चले गए। क्या तू अमर रहेगा? जिसे तुम राजमहल मानते हो, क्या वह धर्मशाला नहीं है?’

राजा की आंख खुल गई, उसने कहा—‘आइए, रहिए।’

योगी—‘मुझे रहना नहीं है। मुझे तो यह बोध देना था कि इस पराए घर को अपना मत मानो। अपना घर तुम्हारी आत्मा है, तुम उसे समझने का प्रयत्न करो।’

हम भी चिन्तन करें, अपना घर बनाने की सोचें।

आचार्य ने कहा—देह तो पराया घर है। अगर शरीर अपना होता तो क्या आत्मा उसे कभी छोड़ती? उसे इसलिए छोड़ती है कि वह पराया है। अपना घर बनाने के लिए चिन्तन को बदलना होगा।

भगवान महावीर की वाणी में अंतिम सचाई है—मैं अकेला हूं, अकेला आया हूं, अकेले जाना है, और सारे संबंध पराए हैं। अपना वह होता है जो साथ चलता है। जो साथ नहीं चलता वह अपना कैसे हुआ?

आचार्य ने स्तुति के माध्यम से इस सचाई को प्रकट किया है—जो एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास करता है—मैं अकेला हूं। अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास करता है—‘आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न है—यह शरीर अलग है और आत्मा अलग है।’ इन दो सचाइयों को समझने वाला अपना घर बना सकता है। जो इन दो सचाइयों को नहीं समझता, वह कभी भी अपना घर नहीं बना सकता। वह पराए घर में ही रहेगा। आएगा, बसेरा करेगा और किसी दिन चला जाएगा।

आचार्य ने कहा—प्रभो! आपके ध्यान से आदमी इस शरीर को छोड़कर परमात्मा बन जाता है, अपने घर में चला जाता है। अपने घर को न कोई खाली करा सकता है और न कोई कब्जा कर सकता है। अपने घर में जाने के बाद शाश्वत निवास रहता है, कोई उसे निकाल नहीं सकता। न सरकार निकाल सकती, न कोई हाउस टैक्स लगा सकता, न कोई कुछ और कर

देह से विदेह की यात्रा १०३

सकता। वहां न तोड़-फोड़ होती, न किसी कारीगर की जरूरत रहती। सामान्य आदमी इस भाषा में सोचता है—शरीर और आत्मा में इतना गहरा संबंध है, उसे अलग करना कैसे संभव होता है? सुन्दर दृष्टान्त के साथ बताया गया—जैसे कोल्हू आदि के द्वारा तेल खल रहित होता है, मथनी आदि के द्वारा घी छाछ रहित होता है, अग्नि आदि के द्वारा धातु मिट्टी रहित होती है, वैसे ही तीव्र आध्यात्मिक साधना के प्रयत्न से व्यक्ति विदेह बन जाता है, परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

१६. विग्रह शमन का मार्ग

सिद्धसेन के सामने एक और प्रश्न आ गया। प्रश्न ही नहीं, समस्या आ गई—प्रभो! मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ किन्तु मन में एक बड़ी उलझन है। वह यह है—जो मनुष्य जिसके माध्यम से आपका ध्यान करते हैं, आप उसी का विनाश कर देते हैं।

कोई भी आदमी ध्यान करता है तो आंख मूंद कर शरीर को स्थिर करता है। फिर अपने हृदयप्रदेश में, मस्तिष्क में, चैतन्यकेन्द्रों में और विशेष मर्मस्थानों में आपका ध्यान करता है। **विभाव्यसे, ध्यायसे, स्मर्यसे**—आपकी विभावना की जाती है, आपका ध्यान किया जाता है, आपकी स्मृति की जाती है।

स्मृति का माध्यम कौन है? हमारा शरीर। ध्यान करने का माध्यम कौन है? हमारा शरीर। शरीर के बिना कोई ध्यान नहीं होता, शरीर के बिना कोई स्मृति नहीं होती। जो सबसे अच्छा माध्यम है—**यस्य अन्तः**—जिसके अन्तर में आपका ध्यान किया जाता है उसी शरीर का आप नाश कर देते हैं! जो व्यक्ति सहायता करे, कम से कम उसकी तो रक्षा करनी चाहिए। विनाश नहीं करना चाहिए। जो ध्यान करने का माध्यम बना उसी का आप नाश कर देते हैं। कैसे हैं आप? आश्चर्य है। लोग कहेंगे—जिसने स्थान दिया उसी का नाश कर दिया। अच्छा नहीं लगता।

स्तुति उस व्यक्ति की करनी चाहिए जो शरणागत की रक्षा करे। जो स्थान दे, आश्रय दे, उसकी रक्षा करनी चाहिए।

हमारा शरीर सबसे बड़ा माध्यम है। बेचारे शरीर को दोनों बातें सहनी पड़ती हैं। एक ओर शरीर को नौका कहा गया—**सरीरमाहु नावत्ति**—शरीर नौका है। दूसरी ओर शरीर को सब अनर्थों की जड़ कहा गया। नश्वर, क्षणभंगुर, त्याज्य और हेय कहा गया। यह भी कहा गया—यह शरीर अशुचि का भण्डार है। वस्तुतः किसी भी अशरीर वाले ने आज तक साधना नहीं की। सारी साधना किसने की है? जिसके पास अच्छा शरीर है, विकास उसी के माध्यम

विग्रह शमन का मार्ग १०५

से हुआ है। जिसके पास अच्छा मस्तिष्क है उसने दुनिया में विकास किया है। उस शरीर को, जो अपने भीतर स्थान देता है, आपको विराजमान करता है उसी शरीर का विनाश कर देते हो! अमरबेल जिस वृक्ष पर उगती है, उसी वृक्ष का रस सोख लेती है। क्या यह अमरबेल जैसा ही नहीं हो रहा है?

दार्शनिक जगत् में दो शब्द बहुत चर्चित रहे हैं—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त वह है जो दिखाई नहीं देता। मूर्त वह है जो दिखाई देता है। दार्शनिक लोगों ने अपनी बुद्धि का प्रयोग किया, अदृश्य को देखने का प्रयत्न किया और उसका उपाय भी खोज निकाला। ज्ञान अमूर्त है। लिपि का विकास किया, ज्ञान को मूर्त बना दिया। अगर लिपि नहीं होती तो ज्ञान अमूर्त ही रहता, हमारे सामने नहीं आता। लिपि है, इसीलिए पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, अमूर्त मूर्त बन जाता है। हजारों-हजारों वर्ष पहले के ग्रंथ आज हमारे सामने हैं। लिपि नहीं होती तो ये ग्रंथ नहीं होते। काल अमूर्त है। वह दिखाई नहीं देता। आदमी ने घड़ी बनाई, काल को मूर्त बना दिया। इसीलिए काल का ज्ञान हो रहा है। आत्मा और परमात्मा अमूर्त है। उसका भी मूर्तीकरण किया गया।

इसी मनीषा को सामने रखकर आचार्य ने कहा—प्रभो! आप अहिंसक हैं, दयालु हैं। आपने काठ में जलते हुए सर्प को बचाया था। आप यह क्या कर रहे हैं? विचित्र स्थिति है। जो भक्त श्रद्धालु आपको अपने हृदय में, मस्तिष्क में बिठाता है और आप उस शरीर को भी नष्ट कर देते हैं! हम सोच भी नहीं सकते कि इतने दयालु, कृपालु, अहिंसक होकर यह कैसे कर सकते हो?

सिद्धसेन इस प्रश्न में उलझ गए—उस व्यक्ति की स्तुति कैसे करूं, जो व्यक्ति अपने आश्रय देने वाले को भी समाप्त कर देता है। शरीर तो आश्रय देने वाला है। उसी शरीर को, आश्रयदाता को आप समाप्त कर देते हैं। यह कैसे?

अगर रूपक की भाषा में कहूं तो शायद आचार्य ने भगवान् पार्श्व से पूछा होगा—भगवन्! आप यह क्या कर रहे हैं? इसका मैं क्या समाधान दूं? एक ओर मैं आपके गुणों की स्तवना कर रहा हूं, आपकी कृपालुता, दयालुता की बात कर रहा हूं। दूसरी ओर आप शरीर का नाश कर रहे हैं, सदेह को विदेह बना रहे हैं। यह स्पष्ट विरोधाभास है।

कभी-कभी आदमी उलझ जाता है। एक मालिक ने अपने दसवर्षीय नौकर से कहा—तुम बाजार जाओ और एक शीशा ले आओ, जिसमें मेरा

मुंह अच्छा दिखाई दे सके। नौकर पैसा लेकर बाजार गया। जहां-जहां दर्पण दिखाई दिए, वहां सब जगह गया। एक घंटा घूमकर खाली हाथ आ गया।

मालिक ने पूछा—‘अरे! शीशा नहीं लाया?’

‘नहीं ला सका।’

‘क्यों? क्या शीशा नहीं मिला?’

‘मालिक! आपने कहा था कि मेरा मुंह अच्छी तरह दिखाई दे, वैसा दर्पण लाना। मैंने तो हर शीशे को ध्यान से देखा, सबमें मेरा ही चेहरा दिखाई दे रहा था। आपका चेहरा तो किसी भी शीशे में दिखाई नहीं दे रहा था। मैं शीशा कैसे लाता?’

छोटे बच्चे में समझ कम होती है इसलिए वह उलझ जाता है, समस्याग्रस्त हो जाता है। किन्तु प्रतिभा के धनी आचार्य सिद्धसेन भी उलझ गए—भगवन्! मैं आपकी दया और कृपा की बात कैसे बताऊं?

आचार्य ने शायद समाधान पाने के लिए कुछ विराम किया होगा। पूज्य कालूगणी फरमाते थे—जब मैं सूत्रों का वाचन करता तब कोई समस्या आती अथवा कोई बात समझ में नहीं आती तो उस समय उसे छोड़ देता। दूसरे दिन पुनः पढ़ता तो समाधान सामने आ जाता। उनको ऐसा प्रतीत होता कि रात को मघवागणी आते हैं और मेरा समाधान कर देते हैं। हमारे स्थूल मन के प्रश्नों का हमारा सूक्ष्म मन अथवा अंतर्मन समाधान देता है। कभी जागृत अवस्था में, कभी स्वप्नावस्था में।

समस्या के समाधान का एक उपाय है गहराई में जाना। गहराई में गए बिना, भीतर गए बिना समस्या का समाधान नहीं मिल सकता। समस्या का समाधान पाने के लिए डुबकियां लगानी पड़ती हैं, गोता लगाना आवश्यक होता है। आचार्य गहरे ध्यान में गए और समाधान की रश्मि उपलब्ध हो गई। उन्होंने कहा—यह दुनिया का नियम है कि जो मध्यवर्ती होता है वह इधर-उधर की बात नहीं देखता। किसने अच्छा किया, किसने बुरा किया—कुछ भी नहीं देखता। विग्रह के दो अर्थ होते हैं—एक है शरीर और दूसरा है युद्ध, लड़ाई, संघर्ष, झगड़ा। जो मध्यवर्ती है वह तटस्थ और मध्यस्थ होता है। मध्यस्थ का काम है विग्रह को समाप्त करना, लड़ाई-झगड़े को समाप्त करना। प्रभो! मैं बिना मतलब उलझ गया। शरीर का एक नाम है विग्रह। सारा विग्रह कहां से पैदा होता है? सारे ममत्व का उद्गम स्थल कौन है?

विग्रह शमन का मार्ग १०७

शरीर। आसक्ति का उद्गम स्थल कौन है? शरीर। परिग्रह का उद्गम स्थल कौन है? शरीर।

स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के परिग्रह बतलाए गए हैं, उनमें एक है शरीर। शरीर परिग्रह है। यदि अशरीर हो जाएं तो पदार्थ के प्रति ममत्व की अपेक्षा ही नहीं होती। अशरीर को ममत्व नहीं करना पड़ता क्योंकि सारा ममत्व शरीर का है—सारी समस्याएं शरीर से पैदा होती हैं। सबसे बड़ी समस्या है भूख की। सारी प्रवृत्तियां क्यों करनी पड़ती हैं? 'सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः' एक सेर चावल, एक सेर बाजरी या एक सेर गेहूं के लिए सारी प्रवृत्तियां करनी पड़ती हैं। उसके बिना भूख का शमन नहीं होता। शरीर विग्रह पैदा करता है। शरीर के रूप-सौन्दर्य के कारण कितने बड़े-बड़े संग्राम हो गए। आप हैं मध्यस्थ और शरीर है विग्रह। मध्यस्थ का काम है विग्रह को समाप्त करना। वह पक्षपात नहीं करता, मध्यस्थ रहता है। प्रभो! आप मध्यस्थ हैं इसलिए जिसके भीतर आपका ध्यान किया जाता है, उसका भी नाश कर देते हैं क्योंकि वह विग्रह है।

अब सिद्धसेन पार्श्व की भाषा में भी कह रहे हैं—तुम जानते नहीं हो, शरीर और आत्मा का संघर्ष चल रहा है। आत्मा शुद्ध है, ज्ञानमय है, चैतन्यमय है और शरीर उसका आवरण बना हुआ है।

आचार्य को अपनी अंतःप्रज्ञा से या पार्श्व की अन्तःभूत ज्ञानरश्मियों से समाधान मिला—तुम उलझ क्यों रहे हो? पार्श्व जो काम कर रहे हैं वह दया का नहीं, महान् दया का काम है। एक वर्ष से नहीं, सौ वर्ष से नहीं, अनादिकाल से संघर्ष चल रहा है। आत्मा शुद्ध रहना चाहती है, शरीर उसका आवरण बन जाता है। वह ज्ञान को भी ढक देता है, शक्ति को भी प्रतिहत कर देता है। प्रश्न है कि आत्मा है या नहीं? शरीर दिखाई देता है, आत्मा दिखाई नहीं देती। आत्मा प्रकट होना चाहती है किन्तु शरीर उसे प्रकट होने नहीं देता। वह उस पर पर्दा डाल रहा है। यह शरीर और आत्मा का संघर्ष है।

जब दो व्यक्तियों की लड़ाई होती है तब किसी तीसरे को मध्यस्थ बनाया जाता है। पार्श्व ने कहा—शरीर और आत्मा ने मुझे मध्यस्थ बना दिया। वे कह रहे हैं—हमारी लड़ाई मिटाओ, हम कब से लड़ रहे हैं। लोग लड़ते हैं और हाईकोर्ट, सुप्रीम कोर्ट तक चले जाते हैं। फैसला कब होता है? कभी पांच वर्षों में, कभी दस वर्षों में। समाचार-पत्रों में यह संवाद भी पढ़ा—दादा ने

१०८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

केस किया था और फैसला मिला पोते को। दादा और पिता दोनों इस दुनिया से विदा हो गए। इतना लंबा समय लगता है।

पार्श्व ने कहा—तुम्हारी लड़ाई का अंत तभी होगा जब तुम अलग-अलग चले जाओ, अपना स्थान बदल दो। आत्मा से कहा—तुम्हारा स्थान है ऊर्ध्वलोक में और शरीर का स्थान है इस धरती पर। तुम इस धरती पर मत रहो।

दोनों को पार्श्व की बात न्यायसंगत लगी। पार्श्व की आत्मा ऊपर चली गई और शरीर नीचे रह गया। जब तक शरीर में अवस्थित पार्श्व भीतर था, तब तक शरीर सक्रिय था, जीवित था। जैसे ही पार्श्व ऊपर गए, शरीर मुर्दा बन गया, नष्ट हो गया।

आचार्य ने कहा—प्रभो! यह विचित्र बात है कि जिस शरीर ने आपको आश्रय दिया, उस शरीर को आपने नष्ट कर दिया। पार्श्व बोले—मैंने नष्ट नहीं किया। मुझे तो मध्यस्थ बनाया था आत्मा और शरीर ने। मध्यस्थ का काम होता है—निर्णय देना। मैंने निर्णय दिया—आत्मा! तुम अलग रहो। शरीर! तुम अलग रहो। जब आत्मा चली गई तब शरीर अपने आप नष्ट हो गया। इसका मैं क्या करूं? दर्शन के रहस्यपूर्ण सिद्धान्त को समझने के लिए आचार्य ने गूढ़ श्लोक रच दिया। जहां इसमें चिन्तन की मौलिकता झलकती है वहां ऊर्ध्वारोहण की प्रेरणा भी मिलती है, जो आत्मा के निरावरण स्वरूप का बोध कराने में सक्षम है।

१७. ध्याता और ध्येय की एकात्मकता

रहस्यवाद में कुछ तथ्य गुप्त होते हैं। रहस्यवादी उन तथ्यों को जनता के सामने प्रस्तुत करता है। आचार्य सिद्धसेन अर्हत् पार्श्व की स्तुति में अनेक रहस्यों का प्रकटीकरण कर रहे हैं।

प्रभो! मनीषी लोग आपका ध्यान करते हैं और आपके साथ अभेद-बुद्धि स्थापित कर लेते हैं।

ध्यान की दो पद्धतियां हैं—१. भेद प्रणिधान, २. अभेद प्रणिधान।

भेद प्रणिधान की पद्धति में ध्याता और ध्येय अलग-अलग होते हैं। एक ध्यान करने वाला होता है और एक वह होता है जिसका ध्यान किया जाता है। जैसे एक व्यक्ति पार्श्व का ध्यान कर रहा है। वह ध्याता बन गया, पार्श्व ध्येय बन गए। पार्श्व अलग है और ध्यान करने वाला अलग है। दोनों में भेद हो गया। यह ध्यान की प्रारंभिक पद्धति है।

जैसे-जैसे ध्यान का विकास होता है, भेद समाप्त होता जाता है, अभेद प्रारंभ हो जाता है। ध्यान की एक अवस्था में ध्याता और ध्येय—दोनों एक हो जाते हैं। ध्यान करने वाला अपने ध्येय के साथ एकात्मकता स्थापित कर लेता है, उसके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। 'भवत् प्रभावः'—आपका ध्यान करने वाला आप जैसा बन जाता है, आप जैसा ही प्रभाव उसमें आ जाता है। यह कैसे संभव हो सकता है?

जयाचार्य ने चौबीसी में इस अभेद ध्यान का सुन्दर उल्लेख किया है—विमल का ध्यान करने वाला विमल बन जाता है।

विमल ध्यान प्रभु आप ध्याया, तिण सूं हुवा विमल जगदीश।

विमल ध्यान बलि जे कोइ ध्यासी, होसी विमल सरीस।।

भेद प्रणिधान में ऐसा नहीं होता। वह ध्यान की आरंभिक अवस्था है। इसमें ध्यान करने वाला और जिस आत्मा का, निर्मलता का ध्यान किया जा रहा है—दोनों अलग-अलग हैं।

११० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आचार्य रामसेन ने तत्त्वानुशासन में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में अभेद ध्यान का वर्णन किया है। रामसेन ने लिखा है कि बाहुबलि का ध्यान करने वाला बाहुबलि जैसा शक्तिशाली और गतिमान बन जाता है। जिसका हम ध्यान करते हैं और उसके साथ अभेद स्थापित कर लेते हैं तो हमारा वैसा ही परिणमन शुरू हो जाता है।

परिणमन का सिद्धान्त बहुत विचित्र है और उसे बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है—**जं जं भावे आविस्सइ तं तं भावे परिणमइ**—जो व्यक्ति जिस-जिस भाव में आविष्ट होता है, वह उसी भाव में परिणत हो जाता है। जैसे ही अभेद की साधना शुरू की, परिणमन घटित होना शुरू हो गया। भगवती सूत्र में परिणमन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाले पांच शब्दों का उल्लेख मिलता है—

१. **एजति**—कंपन शुरू हो जाता है।
२. **व्येजति**—विशिष्ट कंपन शुरू हो जाता है।
३. **चलति**—गमन या स्थानान्तरण हो जाता है।
४. **स्पंदते**—किंचित् चलन शुरू हो जाता है।
५. **घटते**—सब दिशाओं में चलन शुरू हो जाता है।

संचलन और स्पंदन होते ही उसी भाव में परिणत होकर व्यक्ति स्वयं वैसा बन जाता है। यह परिणमन का सिद्धान्त जैन योग का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सभी योग पद्धतियों में इसको महत्त्व दिया गया है।

यह तथ्य स्तुतिकार दृष्टांत के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। सर्प का विष मिश्रित पानी सामने रखा हुआ है। उस सर्प-विष को उतारना है। ध्याता सबसे पहले यही धारणा करता है कि यह पानी तो अमृत है, विष का नाश करने वाला है। बीस मिनट एकाग्र होकर अनुचिंतन करे—यह विष मिश्रित पानी अमृत है और मैं अमृत को पी रहा हूँ। उससे जहर समाप्त हो जाता है। यदि अनुप्रेक्षा, अनुचिन्तन ठीक हो जाए तो वह अनुचिन्तन एक मंत्र का काम करता है। वह पानी अमृत बन जाता है और उसे पीने वाला विष-मुक्त हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु में परिणमन होता है। परिणमन का सिद्धान्त जैन-दर्शन का बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। हम अपने चिन्तन और संकल्प के द्वारा रूपान्तरण कर सकते हैं।

ध्याता और ध्येय की एकात्मकता १११

योग का एक बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग है भावना का प्रयोग। वर्तमान में प्रचलित सम्मोहन का प्रयोग भी इसी का एक रूप है। एक व्यक्ति को सम्मोहित कर दिया और कहा कि तुम देखो तुम्हारे हाथ में फफोला है। पहले कोई फफोला नहीं था किन्तु फफोले की भावना से भावित कर सुझाव दिया। थोड़ी देर बाद देखा, हाथ में फफोला हो गया। कहां से आया? भावना के कारण पैदा हो गया।

हम लोग ध्यान का प्रयोग कराते हैं। गर्मी बहुत है, ध्यान अच्छी तरह से नहीं हो रहा है। उस समय एक प्रयोग करवाया जाता है—चारों तरफ अनुभव करो कि हिमपात हो रहा है, बर्फ ही बर्फ गिर रही है, ठंडी हवा चल रही है। अभ्यास के द्वारा भावना से भावित हो जाता है और थोड़ी देर में गर्मी समाप्त हो जाती है। ऐसा भी देखा कि कुछ व्यक्ति ध्यान करते-करते कांपने लग जाते हैं।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था के एक मासिक शिविर में एक बार अमृत-प्लाविनी मुद्रा का प्रयोग करवाया था—ऊपर से अमृत झर रहा है और अमृत की वर्षा हो रही है, सब लोग अमृत का पान कर रहे हैं। सभी शिविरार्थियों ने यह प्रयोग किया। मोहनलाल जी कठोटिया प्रयोग करते-करते इतने भाव-विभोर हो गए, ऐसा लगा कि सचमुच अमृत का पान कर रहे हैं। यह भावना का प्रयोग बदलने वाला प्रयोग है। शायद इसीलिए कहा गया था—‘जाकी रही भावना जैसी, प्रभु की मूरत देखी वैसी’। अगर हम उपयुक्त भावना करना सीख जाएं तो अपने में काफी परिवर्तन कर सकते हैं। स्तुतिकार ने भावना योग का अपनी स्तुति में प्रयोग किया। प्रयोग से प्रमाणित कर दिया कि आपका अभेद बुद्धि से ध्यान करने वाला आप जैसा बन जाता है।

हमारी दुनिया में, पूरे ब्रह्माण्ड में परमाणु भरे हुए हैं। वे हमें दिखाई नहीं देते। इस प्रवचन पण्डाल में हजारों लोग बैठे हैं वे हमें दिखाई देते हैं किन्तु इसमें अनन्त-अनन्त परमाणु हैं वे हमें दिखाई नहीं देते। वि.सं. २००२ में श्रीडूंगरगढ़ में गुरुदेव का चातुर्मास था। उस चातुर्मास में मैंने जीव-अजीव नामक पुस्तक लिखी। उस समय मेरे सामने बहुत सारे पढ़े-लिखे युवक बैठते थे। मैंने अंगुली की ओर संकेत कर उनसे पूछा—बताओ, यह क्या है?

उन्होंने कहा—‘अंगुली।’

‘और क्या है?’

११२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

‘और तो कुछ भी नहीं है। सिर्फ अंगुली ही दिखाई दे रही है।’

मैंने कहा—‘ध्यान से देखो।’

फिर बोले—‘अंगुली है।’

मैंने कहा—‘तुम अभी जीव-अजीव का अध्ययन कर रहे हो। बताओ अंगुली में धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं या नहीं?’

‘हां, धर्मास्तिकाय के प्रदेश तो हैं।’

‘क्या आकाश अंगुली में नहीं है?’

‘आकाश तो सर्वत्र व्याप्त है। अंगुली में आकाश भी है, पुद्गल परमाणु भी हैं और चेतना भी है।’

अगर हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो एक अंगुली में पांचों द्रव्य हैं। यह केवल अंगुली ही नहीं है, इसमें धर्मास्तिकाय है, उसके प्रदेश भी हैं। अधर्मास्तिकाय है, उसके प्रदेश भी हैं। आकाशास्तिकाय है, आकाश के प्रदेश भी हैं। पुद्गल के अनन्त-अनन्त स्कन्ध हैं और चेतना भी है। हमें दिखाई देती है सिर्फ अंगुली। विश्लेषण करें तो कोरी अंगुली नहीं होती। सबका मिला-जुला एक योग होता है।

परिषद् में हजारों व्यक्ति बैठे हैं। उनके आसपास परमाणुओं का पिंड घूम रहा है। इतने परमाणु हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, स्थूल बुद्धि से सोच भी नहीं सकते। आप जो चीनी खाते हैं, उस चीनी के परमाणु यहां भरे हुए हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के परमाणु भरे हुए हैं। दुनिया में जितने पदार्थ हैं उनके सूक्ष्म परमाणु यहां भरे हुए हैं। हम उन्हें पकड़ नहीं सकते। हमारे पास पकड़ने की शक्ति नहीं है। जहर के परमाणु भी हैं और अमृत के परमाणु भी हैं। व्यक्ति ने पानी को सामने रखा और अनुचिन्तन शुरू कर दिया कि इसमें अमृत है तो उसमें अमृत के परमाणुओं का समावेश होने लग जाएगा। वहां अमृत के परमाणु आने लग जाएंगे। चिन्तन करते-करते, संकल्प करते-करते एक क्षण ऐसा परिणमन होता है कि वह पानी पानी नहीं रहता, अमृत बन जाता है। इसीलिए आचार्य ने कहा—ऐसा अनुचिन्तन विष-विकार को दूर कर देता है, जहर को दूर कर देता है। इसी प्रकार आपके साथ अभेद बुद्धि स्थापित करने वाला पहले यह कहेगा—मैं पार्श्व का ध्यान कर रहा हूं फिर एक अवस्था में पहुंच कर कहेगा—मैं पार्श्व का साक्षात् कर रहा

ध्याता और ध्येय की एकात्मकता ११३

हूँ। यह अभेद-बुद्धि जब आती है, भेद समाप्त हो जाता है और पार्श्व रूप में परिणमन होने लग जाता है।

यह परिणमन का सिद्धान्त दर्शन का बहुत बड़ा सिद्धांत है। परिणमन के अनेक साधन हैं, उनमें एक बड़ा साधन संकल्प व अनुचिन्तन है। हम सही अनुचिन्तन करना सीख जाएं, यह अपेक्षित है।

अनुचिन्तन के द्वारा हम आदतों को बदल सकते हैं। मैं क्रोध नहीं हूँ, मैं क्षमा हूँ। आप अनुचिन्तन करते चले जाएं और अनुचिन्तन के चरम बिन्दु पर पहुंच जाएं तो संभव है कि एक महीने में आपका क्रोध समाप्त हो जाएगा, आप क्षमा के सागर बन जाएंगे। जिस आदत को बदलना है, परिवर्तन करना है, वह परिवर्तित हो सकती है। क्योंकि हमारे सामने सिद्धान्त है, कोरी मौखिक चर्चा नहीं है। परिणमन तो निरन्तर हो रहा है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु मिललाई और वस्तु बदल गई। उसका परिणमन बदल गया।

हम अपने विचारों के द्वारा विश्व में फैले हुए अच्छे परमाणुओं का ग्रहण करते हैं। अगर किसी का विचार बुरा है तो वह बुरे परमाणुओं को ग्रहण करता है। इष्ट परमाणुओं को ग्रहण करने वाला स्वस्थ बन जाता है। अनिष्ट परमाणुओं को ग्रहण करने वाला नकारात्मक परमाणुओं को ग्रहण करता है। निषेधात्मक परमाणुओं को ग्रहण करने वाला स्वस्थ आदमी बीमार बन जाता है और विधायक परमाणुओं को ग्रहण करने वाला बीमार व्यक्ति स्वस्थ बन जाता है। यह रहस्य समझ में आ जाए तो आदमी काफी बदल सकता है।

एक आदमी बीमार है। वह यदि यह सोचे कि मैं बीमार हूँ तो वह बीमार हो जाएगा। कैंसर जैसी भयंकर बीमारी से ग्रस्त कुछ लोग आए। उन्हें एक प्रयोग बताया कायाकल्प का। कायोत्सर्ग करें, पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव को शिथिल करें और प्रत्येक अवयव पर 'सव्व साहूणं' मंत्र का जप करें। संकल्प करें—प्रत्येक अवयव स्वस्थ हो रहा है। यह संकल्प करते हुए पुनः सिर से पैर तक की यात्रा करें। स्वस्थता का अनुभव होगा। जिन लोगों ने इस कायाकल्प का प्रयोग किया, वे अपने अनुभव सुनाते हैं कि हम तो बिल्कुल स्वस्थ हो गए। अब हमारे कोई बीमारी नहीं है।

हमारे शरीर में दोनों प्रकार की चीजें हैं—खराब भी और अच्छी भी। श्रीडूंगरगढ़ में साधु-साध्वियों की गोष्ठियां हुईं। उसमें हमने तीन शब्दों पर चर्चा की थी—सेराटॉनिन, मेलाटॉनिन व एंडोरफिन—ये तीनों रसायन हमारे

११४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

शरीर में पैदा होते हैं। हम ही उन्हें पैदा करते हैं। अगर हम अच्छी भावना, अच्छा संकल्प, अच्छा चिन्तन करें तो एंडोर्फिन बना लेते हैं। एंडोर्फिन के स्राव की स्थिति में शरीर का दर्द समाप्त हो जाता है। सेराटॉनिन का स्राव होने पर हम मस्ती व आनंद में रहते हैं। व्यक्ति में कभी निराशा नहीं होती, कभी तनाव नहीं होता। इन रसायनों से हम तनावमुक्त स्थिति का अनुभव कर सकते हैं।

आचार्य सिद्धसेन अनुभवी हैं, रहस्यवेत्ता हैं। वे स्तुति के माध्यम से रहस्यों को प्रकट कर रहे हैं। यह रचना कल्याण मंदिर नहीं, रहस्य मंदिर है, रहस्यों का घर बना हुआ है। इन रहस्यों को समझकर हम बहुत सारी समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

१८. आराध्य होता है वीतराग

प्रस्तुत श्लोक में स्तुतिकार का ध्यान एक नई बात पर केन्द्रित हो गया। दुनिया में कोई हरि की पूजा कर रहा है, कोई हर की पूजा कर रहा है, कोई बुद्ध की पूजा कर रहा है, कोई किसी की पूजा कर रहा है। क्या ये सब अलग-अलग हैं? अलग-अलग हैं तो बड़ा विवाद का विषय बन जाएगा। इस संदर्भ में गांधीजी ने जो प्रयोग किया, वह इस श्लोक का आभारी हो सकता है। गांधीजी ने प्रयोग किया था—राम और अल्लाह—दोनों एक ही हैं। नाम अलग-अलग हो गए। कोई राम कहता है, कोई अर्हत् कहता है, कोई अल्लाह कहता है, कोई कुछ कहता है, पर वास्तव में परमात्मा एक ही है। शुद्ध आत्मा एक ही है वे दो नहीं हो सकतीं।

इस सचाई का स्तुतिकार ने बहुत वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतीकरण किया है। उन्होंने कहा—प्रभो! अलग-अलग नामों से प्रभु की पूजा की जाती है किन्तु मेरी दृष्टि में तो यह सब आपकी ही पूजा हो रही है। सिद्धसेन इस कथन के द्वारा अन्य धर्म के प्रवर्तकों के साथ अभेद बता रहे हैं। **वीतरागमसं**—जिसका अंधकार नष्ट हो गया या जिसका आवरण क्षीण हो गया, वे सब एक ही हैं। इस श्लोक को आचार्य हेमचन्द्र के उस श्लोक के संदर्भ में पढ़ना चाहिए जो वीतराग स्तोत्र में लिखा गया है।

राजा कुमारपाल सोमनाथ के मन्दिर में जा रहे थे। कुछ पण्डितों ने कहा—आचार्य हेमचन्द्र वहां नहीं चलेंगे। महादेव को नमस्कार नहीं करेंगे। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा—महाराज! आप भी चलेंगे?

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—जरूर चलेंगे।

मंदिर में पहुंच कर कुमारपाल ने पूछा—महादेव के मंदिर में क्या आप महादेव की अर्चना करेंगे?

हेमचन्द्राचार्य ने कहा—क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। हेमचन्द्र लिंग के सामने जाकर खड़े हो गए और सस्वर बोले—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याःक्षयमुपागता यस्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

११६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

जिस व्यक्ति ने संसार के बीज रूप राग-द्वेष का क्षय कर दिया, उस ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अथवा वीतराग को मैं नमस्कार करता हूँ।

कर्म का बीज क्या है? संसार का बीज क्या है? राग और द्वेष। आचार्य ने उत्तराध्ययन की भाषा में कहा—संसार के मूल बीज—राग और द्वेष को जिन्होंने क्षीण कर दिया है, वह आत्मा वंदनीय है। उसका ब्रह्मा, विष्णु, हर, जिन—कोई—सा भी नाम हो। मुझे नाम से कोई मतलब नहीं है। मुझे उस पवित्र आत्मा से मतलब है।

इस श्लोक में आचार्य सिद्धसेन ने आत्मा के आधार पर एकात्मकता स्थापित की है। चाहे कोई नाम हो, किसी नाम से पूजे जा रहे हों, सब आप ही हैं। जिसका अज्ञान नष्ट हो चुका, जिसका आवरण समाप्त हो चुका, जिसका मोह क्षीण हो चुका, उस वीततमस की पूजा होगी।

प्रभो! दुनिया में नाना मतों और विचारों के लोग हैं। कुछ हरि को मानते हैं, कुछ हर को मानते हैं। सब लोग अपने-अपने देवता को मानते हैं। अलग-अलग देवता मानने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु प्रभो! मुझे तो ऐसा लग रहा है कि सबका नाम भिन्न-भिन्न है, वस्तुतः वे सभी आपको ही मान रहे हैं।

जैन दर्शन का बहुत बड़ा सिद्धान्त है वीतरागता। मैं अनेक बार कहता हूँ कि वीतराग जैसा पवित्र शब्द पूरे शब्दकोश में आपको नहीं मिलेगा। केवली आदि तो सब बाद की बातें हैं। मूल बात है वीतराग होना। अगर आदमी वीतराग हो गया तो कोई समस्या नहीं रहेगी।

पर-वादी भी विभिन्न नामों से आपको ही मान रहे हैं। क्योंकि वे जिनको अपना इष्ट मानते हैं उसे वीततमस मानते हैं। वीततमस वही है जो वीतराग है। आचार्य हेमचन्द्र ने अयोगव्यवच्छेदिका में भगवान् को 'वीतदोषकलुषः' स्वीकार किया है—

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा।

वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥

तर्कशास्त्र में अनुमान को समझाने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन—ये पांच अवयव बतलाए जाते हैं। प्रतिज्ञा और हेतु—ये दो तो विद्वान् लोगों के लिए हैं। दृष्टान्त, उपनय और निगमन—ये तीन साधारण व्यक्तियों के लिए हैं। जो प्रबुद्ध हैं, उनके लिए हेतु पर्याप्त है। हेतु के द्वारा बात समझ में आ जाती है। बौद्ध-दर्शन में पक्ष और हेतु—ये दो ही अवयव माने

आराध्य होता है वीतराग ११७

गए हैं। जैनाचार्यों ने कहा—साधारण आदमी को अवबोध देने के लिए केवल पक्ष और हेतु से काम नहीं चलता। उन्हें समझाने के लिए दृष्टान्त, उपनय व निगमन भी आवश्यक है।

आचार्य सिद्धसेन भी दृष्टान्त से अपनी बात समझा रहे हैं—शंख सफेद होता है। एक व्यक्ति को काचकामली यानी पीलिया जैसा रोग हो गया। यह ऐसी बीमारी है जिसमें नाना रंग दिखाई देते हैं। पीलिया के रोगी को सब चीजें पीली दिखाई देती हैं और काचकामली रोग वाले रोगी को हरा, पीला आदि अनेक प्रकार के रंग दिखाई देने लग जाते हैं। प्रभो! शंख तो सफेद है किन्तु जिसे काचकामली की बीमारी है, उसे हरा-पीला आदि अनेक रंग दिखाई देते हैं। रंग अनेक हैं पर शंख एक ही है। वैसे ही कोई किसी को भी अपना इष्ट स्वीकार करे, उसे किसी रंग, वेश व रूप में देखे, आखिर तो वह एक ही है। वीतराग तो आप ही हैं और देखने वाले भी आपको ही देख रहे हैं।

बहुत महत्वपूर्ण बात है—साधना की सिद्धि वीतराग बने बिना नहीं होती। वीतराग बनने पर सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। वीतराग का कोई सम्प्रदाय नहीं होता, सिर्फ आत्मा होती है। सारे सम्प्रदाय नीचे रह जाते हैं। वीतराग का मतलब ही शुद्ध आत्मा है। इस दृष्टि से आचार्यों ने जो कहा, वह यथार्थ है। किसी पर आक्षेप भी नहीं किया और एक औचित्यपूर्ण बात भी कह दी—प्रभो! आप 'वीततमस' हैं, 'वीतराग' हैं।

दूसरे मतवादी भी वीततमस को अपना इष्ट मानते हैं। वीतराग को माने बिना बात पूरी नहीं होती। इसीलिए चाहे पार्श्व को मानो, हरि को मानो, हर को मानो, मुहम्मद या ईसामसीह को मानो, किसी को भी मानो—अगर वह वीतराग है तो फिर हमें न नाम से मतलब है, न वेश से और न किसी क्लेश से। शर्त यही है कि हमारा इष्ट वीतराग होना चाहिए। अगर वीतराग है तो वह हमारे लिए वंदनीय है, आराध्य है। वीतराग नहीं है तो वह हमारे लिए वंदनीय नहीं हो सकता, आराध्य नहीं हो सकता।

आचार्य ने इस स्तुति-पद में बहुत सचाई के साथ यह बात प्रकट कर दी—हम सम्प्रदाय की बात में न उलझें। इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहें कि हमारा इष्ट वीतराग है। जो वीतराग नहीं है वह हमारा आराध्य नहीं हो सकता।

एक बहुत बड़ी असाम्प्रदायिक दृष्टि को आचार्य ने प्रकट किया है। यह ऐसा दृष्टिकोण है जहां कोई उलझन नहीं है। कभी-कभी हम नाम में उलझ जाते हैं, कभी-कभी हम वेश में उलझ जाते हैं।

११८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

एक बार मुनि बुद्धमल्ल जी दिल्ली में थे। जहां उनका प्रवास था वहां सेवा करने वाला एक आदमी रहता था। उसका नाम था रतन। एक दिन रतन ने अपने लड़के से कहा—बेटा! जाओ, महाराज को वंदना कर लो, फिर कार्य शुरू करेंगे। लड़का गया, हाथ जोड़े बिना वापिस आ गया। दूसरी, तीसरी बार भेजा, हाथ नहीं जोड़े। उसने कहा—अरे! क्या बात है? तू हमेशा वंदना करता है, आज वंदना क्यों नहीं कर रहा है? तब वह बोला—‘बापू! बे तो महाराज कोनी, आदमी है।’ उस समय मुनि बुद्धमल्ल जी मुखवस्त्रिका उतार कर दांत साफ कर रहे थे। वेश का भी महत्त्व होता है। मुखवस्त्रिका है तो महाराज बन जाता है। मुखवस्त्रिका नहीं है तो आदमी बन जाता है।

सामान्यतः हर आदमी नाम और वेश के साथ चलता है किन्तु उच्च भूमिका में पहुंचते ही नाम, वेश सब समाप्त हो जाते हैं। केवल वीतरागता अवशिष्ट रहती है। इस बहुत बड़ी सचाई को, असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण को आचार्य ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त के साथ प्रस्तुत किया है। इसका मनन और अनुशीलन कर प्रत्येक व्यक्ति सत्यान्वेषी बन सकता है।

१६. तब बनता है अशोक

मन की अनेक दशाएं होती हैं। मुख्य रूप से दो अवस्थाएं हैं—हर्ष और शोक। अनुकूल स्थिति बनती है, मन में हर्ष की तरंगें उठने लग जाती हैं और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, मन शोक से भर जाता है।

एक परिवार दर्शन करने आया। बहुत उदास और तनावग्रस्त। उस परिवार की दशा को देखा। पारिवारिकजनों की आंखों से अश्रुधारा बह रही थी।

मैंने पूछा—‘क्या हुआ?’

‘हम आ रहे थे, डाकुओं ने हमारे सारे गहने लूट लिए।’

मैंने कहा—धन पर किसी एक का अधिकार नहीं होता। उस पर बहुतों का अधिकार होता है। धन पर अग्नि का अधिकार है। बड़े-बड़े भवन, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियां स्वाहा हो जाती हैं। धन पर पानी का भी अधिकार है। बाढ़ आती है, अरबों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। चोरों, डाकुओं का भी अधिकार है। राजा का भी अधिकार है। आज की भाषा में कहें तो आयकर विभाग का अधिकार है। धन पर किसी एक का अधिकार नहीं हो सकता। इसीलिए सोमप्रभसूरि ने सिन्दूर-प्रकर में बहुत सुन्दर लिखा है—

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभूजो,
गृह्णन्तिच्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम्॥

धन की कुटुम्बीजन इच्छा करते हैं, चोर चुराकर ले जाते हैं, राजा कपटपूर्वक हर लेते हैं, अग्नि क्षण भर में जला देती है, पानी बहा कर ले जाता है, पृथ्वी में गड़े हुए धन का यक्ष बलपूर्वक हरण कर लेते हैं, अविनीत पुत्र नष्ट कर देते हैं, इस प्रकार यह धन बहुत जनों के अधीन है। इस धन पर मेरा ही नहीं, सबका अधिकार है। मौका मिलता है तब चला जाता है। शोक करने की क्या बात है? किन्तु मन शक्तिशाली नहीं होता है तो थोड़ा सा वियोग होते ही शोक हो जाता है।

१२० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

तीर्थकर के आठ प्रातिहार्य/अतिशय माने गए हैं। उनमें एक प्रातिहार्य है—अशोक वृक्ष। यह मान्यता रही है कि जब तीर्थकर धर्मोपदेश करते हैं, अशोक वृक्ष उनके ऊपर रहता है। सिद्धसेन अशोक वृक्ष के अतिशय को काव्यात्मक प्रस्तुति दे रहे हैं—प्रभो! आपकी विचित्र महिमा है। जब आप धर्मदेशना करते हैं तब वृक्ष भी अशोक हो जाता है। फिर आपका धर्म सुनने वाला अशोक बन जाए, उसमें आश्चर्य की क्या बात है। उसका तो शोक मिटना ही चाहिए। धर्म सुना, तत्त्व को समझा और इस सचाई को समझा कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। शरीर भी मेरा नहीं है। कहा जाता है कि अकेला आया हूँ, अकेला जाना है। कुछ भी साथ लेकर नहीं आया। किन्तु बहुत सूक्ष्म संस्कारों को साथ लेकर आता है, अकेला नहीं आता। यदि वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो न कोई वस्तु लाता है, न कोई वस्तु ले जाता है। अकेलेपन की अनुभूति ही अन्तिम सचाई है। और तो सारी स्थूल सचाइयाँ हैं। परिवार, मित्र, धन—सब साथ हैं, यह व्यवहार की सचाई है। आज है, कल समाप्त हो जाती है। अन्तिम सचाई है कि व्यक्ति अकेला है। जो इस सचाई को समझ लेता है—**अशोको भवति**—वह अशोक हो जाता है, उसे कभी शोक नहीं होता।

प्रसंग आता है मोहजीत राजा का। एक योगी ने महाराज और महारानी से कहा—राजकुमार को सिंह खा गया। राजा ने अकेलेपन की सचाई का अनुभव किया था, मोह विजय की साधना की थी इसलिए शोक नहीं हुआ। जब तक ममत्व का बंधन रहता है, ममत्व की चेतना का विकास होता है, तब तक शोक होता है। जब यह चिंतन रहे कि 'मेरा था ही नहीं', चला गया तो चला गया। आदमी धन कमाता है, क्या पहले वह उसका था? पहले तो नहीं था। अर्जन किया तब आ गया और बाद में चला गया। इस सचाई को समझने वाला शोक नहीं करता।

आचार्य कह रहे हैं—प्रभो! '**सविधानुभावात्**' आपके सान्निध्य का इतना प्रभाव है कि वृक्ष भी अशोक बन जाता है। आपकी धर्मदेशना सुनने वाला अशोक बन जाए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आचार्य इस बात का उदाहरण के द्वारा समर्थन कर रहे हैं। सूर्योदय होते ही सब जग जाते हैं। केवल प्राणी-जगत् ही नहीं, मनुष्य-जगत् ही नहीं, वनस्पति जगत् भी जाग्रत् हो जाता है। जो मुरझाए हुए, कुम्हलाए हुए पत्र-पुष्प होते हैं, वे भी विकस्वर बन जाते हैं।

तब बनता है अशोक १२१

यह बात आचार्य ने जिस युग में लिखी उस समय यह सचाई जीवनगत थी। आज तो सूर्योदय होने पर भी आदमी कहां जागता है?

बेटा सो रहा था। मां आई और बोली—‘बेटा! देख सूरज कितना चढ़ गया है? सूरज चढ़े तीन घंटा हो गए, अभी भी तू नहीं उठ रहा है।’

बेटा—‘मां! कैसी बात कर रही हो? सूरज तो शाम को ही सो जाता है, मैं तो रात को बारह बजे सोता हूं।’

आज मनोदशा बदल गई, जीवन शैली और जीवन चर्या बदल गई। जो समय सोने का है, वह अब जागने का है। जो समय जागने का है वह अब सोने का हो गया। दिन का समय सोने का नहीं होता। एक आदमी दिन में दस-बीस मिनट झपकी ले, वह तो ठीक है। पर तीन घंटा खूटी तानकर सो जाए तो क्या वह उचित रहेगा? दिन में सोने का मतलब है—बीमारियों को निमंत्रण देना। जो व्यक्ति दिन में ज्यादा सोता है वह बीमारियों को बुलाता है। गर्मी के दिनों में तो फिर भी कुछ समय सोना उचित हो सकता है किन्तु सर्दी में तो दिन में सोने का मतलब ही है—बीमारियों को जान-बूझकर बुलाना। यह जागरण का समय है।

आचार्य ने लिखा— सूर्योदय होता है तो सब जाग जाते हैं। मनुष्य ही नहीं, वनस्पति-जगत् भी जाग जाता है, विकस्वर हो जाता है। फिर प्रभो! आपकी देशना सुनकर शोक की चेतना समाप्त हो जाए, अशोक की चेतना जाग जाए, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

एक बहुत बड़ा सूत्र दिया है—अशोक बनना है और शोकमुक्त जीवन जीना है तो वीतराग का सान्निध्य प्राप्त करो, वीतराग का चिन्तन करो। वीतराग का चिन्तन करोगे तो शोक समाप्त हो जाएगा। राग का चिन्तन करोगे तो शोक बढ़ जाएगा, दुगुना हो जाएगा। वीतरागता के सिवाय अशोक बनने का कोई उपाय नहीं है। जब तक ममत्व का बंधन है, राग है तब तक व्यक्ति अशोक नहीं हो सकता।

हमने ऐसे लोगों को देखा है जो सम्पत्ति के चले जाने पर वर्षों तक रोते रहे हैं और किसी प्रिय व्यक्ति के चले जाने पर जीवन भर रोते रहते हैं। क्योंकि उनमें शोक प्रबल है, मोह प्रबल है, वीतरागता नहीं है। जो व्यक्ति वीतरागता की साधना करता है, वह वियोग होने पर सोचता है कि बस नियति का योग था, ऐसा हो गया। इसके आगे कुछ नहीं करता। ऐसे धार्मिक लोगों को भी

१२२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

देखा है जिनका प्रिय और काम करने वाला पुत्र चला गया, पर वे शोक-संतप्त नहीं हुए। उन्होंने उस वियोग को सहा, यह कहते हुए भुलाया—हमारा इतना ही योग था। अपने काम में लग गए।

मोह-कर्म की अनेक प्रकृतियां बतलाई गई हैं। उनमें शोक भी एक प्रकृति है, जो आदमी को दुःखी बनाती है। इसीलिए सैकड़ों-सैकड़ों परिवार शोक-निवारण और अशोक बनने के लिए धर्मगुरु की सन्निधि में आते हैं, अपनी व्यथा सुनाते हैं, कुछ हलके हो जाते हैं। उन्हें आध्यात्मिक संबल मिलता है। शोक अशोक में परिणत हो जाता है। तीर्थकर की तो बात ही क्या!

अशोक बनने का एक उपाय बतलाया गया है—वीतराग की सन्निधि में जाओ, वीतरागता को प्राप्त करो। रागात्मक जगत् में भटकते रहे तो तुम्हारा शोक कभी समाप्त नहीं होगा। राग-विलय की दिशा में प्रस्थान करो, अशोक बनने का मंत्र उपलब्ध हो जाएगा।

२०. कठिन है बंधन-मुक्ति

तीर्थकर का दूसरा प्रातिहार्य/अतिशय है सुर पुष्प-वृष्टि। जहां तीर्थकर होते हैं वहां देवों के द्वारा पुष्प-वृष्टि की जाती है। सामान्यतः जब फूल शाखा से नीचे गिरता है तो वृन्त ऊपर रहता है और फूल नीचे। किन्तु देवताओं द्वारा की जाने वाली पुष्प-वृष्टि में पुष्प ऊपर रहता है और वृन्त अधोमुख। आश्चर्य है कि यह कैसे संभव होता है?

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य इसका समाधान दे रहे हैं। जहां हर प्रश्न का समाधान होता है वहां एक मानसिक संतोष की अनुभूति होती है। आचार्य कह रहे हैं—‘त्वद् गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!’ जो आपके निकट आता है, आपके आभामंडल का विषय बनता है, उस आभामंडल के प्रभाव से आदमी भी बन्धन-मुक्त बनता है और फूल भी बन्धन-मुक्त। गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि—बंधन हमेशा नीचे की ओर ले जाता है। जो बंधन-मुक्त हो गया, वह फूल और वृन्त दोनों नीचे क्यों आ रहे हैं? सीधा रहने वाला वृन्त अधोमुख क्यों हो रहा है? फूलों का वृन्त से बंधन टूट रहा है। जब वृन्त या उनको बांधने वाला बंधन टूट गया तो फिर फूल नीचे ही आएं। एक अच्छी कल्पना की है।

संस्कृत में सुमनस् के दो अर्थ होते हैं—सुमनस् का एक अर्थ है—फूल और दूसरा अर्थ है—अच्छे मन वाला। प्रभो! जो व्यक्ति अच्छे मन वाले हैं वे जैसे ही आपके विषय बनते हैं, आपके आभामंडल में आते हैं तो सारे बंधन नीचे चले जाते हैं और वह स्वयं ऊपर रह जाता है।

वस्तुतः बंधन को तोड़ना बहुत कठिन कार्य है। साधारण बंधन को तोड़ना भी मुश्किल होता है तो जो दीर्घकालीन बंधन है, उसे तोड़ना कितना कठिन होता है। हम स्वयं देखें, अपना निरीक्षण करें—कितने बंधन हैं? आदमी बाह्य-जगत् में घर से, परिवार और दुकान से बंधा हुआ है। अंतर-जगत् के बंधन इनसे भी ज्यादा हैं। उन बंधनों के कारण आत्मा विभाव में जा रही है। रोना आत्मा का स्वभाव नहीं है। शोक करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

१२४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

भय, ईर्ष्या और घृणा करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। फिर भी ये चल रहे हैं। घृणा भी बहुत चल रही है। एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है, द्वेष भी करता है। ये सारे कर्म के बंधन हैं।

कर्म में सबसे बड़ा बंधन है—मोह का बंधन। नागपाश के बंधन को व्यक्ति तोड़ सकता है। हनुमान व जम्बूकुमार दोनों ने उस बंधन को तोड़ा था, किन्तु मोह के बंधन को तोड़ना सरल नहीं है। सिद्धसेन कहते हैं—‘प्रभो! जो व्यक्ति आपकी शरण में आता है वह कर्म-बंधन को भी तोड़ देता है।’

हम इस सचाई को समझें—कलह, ईर्ष्या, राग-द्वेष, निन्दा और चुगली—ये सारे बंधन हैं। इन बंधनों को तोड़ने का एक ही उपाय है—वीतराग चेतना का जागरण। जो राग व द्वेष की चेतना में जीता है उसके बंधन बढ़ते चले जाते हैं।

आज इतना तनाव क्यों हो रहा है? इसलिए कि मोह के बंधन को नहीं समझ रहे हैं। रक्तचाप क्यों बढ़ जाता है? इमोशन प्रबल होते हैं तो हृदय की गति व नाड़ी के स्पंदन भी बढ़ जाते हैं। हम वास्तव में धर्म का लाभ उठाएं। धर्म के मर्म को समझें। केवल क्रियाकाण्ड में न रहें। हम एक ही साधना करें कि मोह कम कैसे हो? वीतरागता की चेतना कैसे जाग्रत् हो?

तीर्थकर के आभामंडल में जाने वाले का मानस बदल जाता है। कितने प्रसंग हैं! अपराधी आए, लुटेरे आए, भयंकर पाप करने वाले लोग आए। जैसे ही उस पवित्र आभामंडल की सन्निधि में आए, चेतना बदल गई। आश्चर्य तब होता है जब धर्म को सुनने वाले, लम्बे समय तक धर्म की बात को पढ़ने वाले अपने राग-द्वेष को कम नहीं करते, ईर्ष्या, द्वेष आदि को कम नहीं करते। तो फिर धर्म का अर्थ ही क्या रहा?

एक व्यक्ति सुलभबोधि था। उसने एक दिन साधु का धर्मोपदेश सुना। सुनने के बाद उसे लगा कि वह ज्ञान उसके भीतर चला गया। अनेक दिन तक उसका प्रभाव रहा। बाजार की स्थिति को देखा, लोगों को देखा, वहां तो पाटे बिछे हुए हैं। कहीं ईर्ष्या, द्वेष, चुगली तो कहीं आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है। अगले दिन सुबह देखा तो वे ही लोग धर्मोपदेश सुन रहे हैं। उस भद्रपुरुष का मानस उद्वेलित हो गया। वह व्यथा-भरे स्वर में बोला—

**एक दिन ज्ञान सांभल्यो, हुयो ज्ञान में गरक।
रोज-रोज ए सांभले, अरे कान है या दरक।।**

कठिन है बंधन-मुक्ति १२५

मैंने एक दिन ज्ञान सुना, उससे ही मैंने अपने मोह को दूर कर लिया। किन्तु ये लोग रोज-रोज सुनते हैं और बाजार में जाकर वही धंधा करते हैं, इनके कान हैं या दरक। बहुत मर्म की बात है।

हम इस बात पर ध्यान दें—धर्म के द्वारा अगर हमारी चेतना में थोड़ा भी परिवर्तन नहीं आता है, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि बराबर चलते हैं तो फिर धर्म क्यों कर रहे हैं? चिन्तन करना है कि क्या हम वीतरागता की तरफ जा रहे हैं? क्या राग-द्वेष को कम करने का प्रयत्न कर रहे हैं?

आचार्य ने ठीक कहा—प्रभो! जो आपके आभामंडल का विषय बन जाता है सचमुच उसके राग-द्वेष के बंधन नीचे चले जाते हैं। स्तुति में पुष्प को जिस प्रकार एक तात्त्विक रूप दिया है, वह बहुत गहरा व महत्वपूर्ण है। हम भी प्रयत्न करें कि बंधनों को नीचे ले जाएं। हमारे बंधन भी टूटकर नीचे चले जाएं और हमारी उज्ज्वल आभा और उज्ज्वल आभामंडल विकस्वर बने, तेजस्वी बने और ऐसा बने कि उसके पास आने वाला भी शोक-मुक्त हो जाए।

२१. बीज संघर्ष और शांति का

मनुष्य के पास कर्म तंत्र है, प्रविधि तंत्र है। वह प्रविधि तीन प्रकार की होती है—कायिक, वाचिक और मानसिक। शरीर के द्वारा क्रिया करता है, वाणी और मन के द्वारा क्रिया करता है। मन की प्रविधि को कोई जान नहीं सकता। शरीर की प्रविधि को हम देख सकते हैं। वाणी की प्रविधि एक आदमी का दूसरे आदमी के साथ संबंध जोड़ती है। समाज की व्यवस्था, समाज के सारे संबंध वाणी व शब्दों के द्वारा ही संचालित होते हैं। इसीलिए वाणी का बहुत महत्त्व है। वाणी बहुत शक्तिशाली होती है। वाणी में दोनों प्रकार की शक्ति होती है—सकारात्मक व नकारात्मक। वाणी के द्वारा आशीर्वाद मिलता है और अभिशाप भी। कभी किसी ने ऐसा अनिष्टकारी वचन कहा कि सचमुच सामने वाले का अनिष्ट हो गया। अनिष्ट वाणी अभिशाप का कार्य करती है। इष्ट वाणी कल्याण के लिए, आशीर्वाद के लिए होती है।

आचार्य सिद्धसेन ने इस महत्त्वपूर्ण प्रविधि की चर्चा की है—प्रभो! आपकी वाणी को लोग अमृत कहते हैं किन्तु वह वाणी अमृत कैसे हुई?

समुद्र मंथन से अमृत का आविर्भाव हुआ, यह एक पौराणिक मत है। आपकी वाणी अमृत कैसे हुई? बताया गया—‘गभीर-हृदयोदधि-संभवायाः’—समुद्र छिछला नहीं बहुत गंभीर, गहरा होता है। आपका हृदय रूपी समुद्र गंभीर है। यहां हृदय से तात्पर्य मस्तिष्क से है। क्योंकि वाणी का सारा संबंध मस्तिष्क से होता है, सारा संचालन मस्तिष्क से होता है। उससे जो वाणी निकली है, उत्पन्न हुई है, उस वाणी को श्रोता लोग कहते हैं कि यह वास्तव में अमृत ही है।

समुद्र से निकला हुआ अमृत और आपकी वाणी से निसृत अमृत—इन दोनों तंत्रों पर विचार करें। एक की उत्पत्ति होती है समुद्र में और उसका पान करने वाला अजर-अमर होता है, बूढ़ा नहीं होता और मरता भी नहीं है। वीतराग या मुक्त आत्मा का लक्षण क्या है? मोक्ष में न तो बुढ़ापा है और न मृत्यु है। केवल अजरत्व और अमरत्व की स्थिति है। व्यावहारिक रूप से

बीज संघर्ष और शांति का १२७

आपकी वाणी का रसपान करने वाला बूढ़ा नहीं होता और दुःखपूर्ण जीवन नहीं जीता। उसकी कष्टपूर्ण मौत नहीं होती और अकाल मृत्यु भी नहीं होती।

हम अर्हत् पार्श्व की वाणी को दो रूपों में देखें—जब आप देशना देते हैं उस समय श्रोताओं को एक अमृत का सा अनुभव होता है। उसके साथ अच्छे प्रकंपन आते हैं। वाणी एक तरह का प्रकंपन है। एक पवित्र आत्मा के मुंह से कोई बात निकलती है तो उसके साथ शुभ प्रकंपन आते हैं और वे प्रकंपन आदमी को प्रमुदित कर देते हैं।

महावीर की वाणी को हमने नहीं सुना। पार्श्वनाथ की वाणी को भी नहीं सुना। बहुत सारे प्रभावक आचार्यों की वाणी को भी नहीं सुना। आचार्य तुलसी की वाणी को हमने सुना है और यह अनुभव किया है—कोई भी संतप्त व्यक्ति उनके पास आता और वे दो शब्द करुणा और वात्सल्य के साथ कह देते, इतने में वह प्रमुदित हो जाता और बाहर जाकर कहता—आज तो बड़ी कृपा हुई, आचार्यश्री ने मुझसे बात कर ली। मन में एक प्रमोद-भावना की अनुभूति होती है। इसीलिए ठीक कहा है—**परमसम्मद-संगभाजो**। भगवान् की वाणी परम आनन्द को देने वाली है।

सिद्धसेन इसी अनुभवपूरित शब्दावली में कह रहे हैं—आपकी वाणी अमृत है। आपकी वाणी से परम मोद होता है, परम आनन्द होता है। सुनने वालों को ऐसा लगता है कि वह सब दुःखों को भूल रहा है। बहुत बार ऐसा होता है कि हम अच्छी बात सुनते हैं, अच्छा प्रवचन सुनते हैं, अच्छा विषय सुनते हैं तो भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं। जब भीतर का आनन्द प्रकट होता है, भीतर का उल्लास व प्रमोद भाव प्रकट होता है तब आदमी संताप व कष्टों को भूल जाता है। आदमी के भीतर दोनों हैं—दुःख के संवेदन भी हैं और सुख के संवेदन भी। अगर हम किसी उपाय से सुख के संवेदन को प्रकट कर सकें तो दुःख की बात समाप्त हो जाती है। उस वाणी में ऐसा प्रभाव है कि दुःख समाप्त हो जाता है, आनन्द प्रकट हो जाता है। दुनिया में जितने लड़ाई-झगड़े और कलह हैं, उनका प्रमुख कारण वाणी है। वाणी संघर्ष के बीज भी बोती है और शांति के बीज भी।

वाणी में बहुत बड़ी शक्ति है। उससे शुभ प्रकंपन पैदा होते हैं, जो अच्छे वचन और मधुर वचन के निमित्त बनते हैं। उसके साथ अच्छे परमाणु भी निकलते हैं और वे परमाणु हमारे मन को प्रभावित करते हैं। एक बार एक बहन आई और बोली—मेरा पति खाने का बड़ा शौकीन है। पहले मैं रसोई बनाती,

१२८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

बहुत तरह के व्यंजन बनाती पर वह कभी संतुष्ट नहीं होता था और आजकल मैं भोजन बनाती हूँ तो वह बहुत खुश होता है। कहता है—तुमने बड़ा मीठा भोजन बनाया है। इसका क्या कारण है। मैंने पूछा—यह परिवर्तन कब से है? उसने कहा—जब से मैं प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करने लगी हूँ तब से यह परिवर्तन आया है। मैंने कहा—कारण साफ है। पहले तुममें गुस्सा बहुत था। तुम गुस्से के साथ रसोई बनाती थी। इसलिए तुम कोरी रसोई ही नहीं परोसती थी, साथ में गुस्से के परमाणु भी परोसती थी और वे कड़वे लगते थे।

यदि व्यक्ति गुस्से में रोटी बनाता है तो खाने वाला केवल रोटी ही नहीं खाता, उसके साथ गुस्से के परमाणुओं को भी खाता है। अब तुम्हारा गुस्सा शांत हो गया है। अब तुम भोजन के साथ मैत्री के परमाणु परोसती हो इसलिए भोजन भी मधुर लगता है।

जैन धर्म में अनेक लोग वर्षीतप करते हैं। वर्षीतप के प्रयोग के साथ यह संकल्प लें तो ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि पूरे वर्षभर में एक भी कटु शब्द नहीं बोलूंगा। लड़ाई-झगड़ा करने वाला शब्द नहीं बोलूंगा। कलह करने वाला शब्द नहीं बोलूंगा। किसी के मन को दुःखाने वाला शब्द नहीं बोलूंगा।

वर्षीतप का मूल्य कम नहीं है फिर भी मेरी दृष्टि में ज्यादा मूल्यवान है आंतरिक तप। यह आंतरिक तप शुद्धि का तप है। हमारी हर प्रवृत्ति के साथ क्रोध का उपशम, वाणी की पवित्रता, मन की पवित्रता और काया की पवित्रता होनी चाहिए। यह उपशम की साधना जीवन में आए। आप ऐसे वचन का प्रयोग न करें जिससे समाज में कलह पैदा हो—परिवार में कलह पैदा हो। यह बोधपाठ हमें स्तोत्र के द्वारा प्राप्त हो रहा है।

२२. लक्षण ऊर्ध्वगति का

तीर्थकर का एक अतिशय माना गया—जहां तीर्थकर बैठते हैं, देशना देते हैं, वहां दोनों तरफ चामर डुलाए जाते हैं। आजकल भी देखते हैं कि बड़े लोगों या मूर्तियों के आसपास चामर डुलाए जाते हैं। ऐसा क्यों? चामर बोधपाठ दे रहे हैं, शिक्षा दे रहे हैं। पहले इन्हें नीचे ले जाते हैं फिर ऊपर ले जाते हैं। चामर कह रहे हैं कि देखो, हम भी पहले झुकते हैं फिर ऊपर उठते हैं। हम श्वेत हैं, शुचि हैं, सफेद हैं। हमारी क्रिया को मनुष्य भी समझे, चेतनावान प्राणी भी समझे। जो अर्हत् पार्श्व को नमस्कार करता है, झुकता है या जो पार्श्व के चरणों में प्रणति करता है, प्रणाम करता है, उसके भाव शुद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार चामर शुद्ध सफेद होते हैं, उसी प्रकार हमारे मन और आत्मा के भी शुद्ध-भाव होते हैं यानी शुक्ल लेश्या वाले भाव होते हैं।

आप निश्चित मान लें—‘नूनं ऊर्ध्वगतयः’ हमारी ऊंची गति होने वाली है। इधर प्रणाम, उधर शुद्ध भाव और फिर ऊर्ध्वगति। चामर यह बोधपाठ दे रहे हैं कि हम भी सफेद हैं। हम झुकते हैं इसलिए ऊपर उठ जाते हैं। आप भी भगवान् के चरणों में प्रणाम करें और साथ में भाव शुद्ध रखें। प्रणाम करते हैं तो काययोग शुद्ध होता है। यदि भीतर नकारात्मकता चल रही है तो भाव शुद्ध नहीं होता, मनोयोग भी शुद्ध नहीं होता। शुद्ध भाव के साथ पार्श्व के चरणों में प्रणति करेंगे तो आपकी ऊर्ध्वगति निश्चित है।

कवि अमूर्त को मूर्त बना देता है, निष्प्राण को प्राणवान बना देता है, अचेतन को सचेतन बना देता है। यह कवि का कौशल है। कवि के सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्तों से मिलते नहीं हैं। उसकी सचाइयां भी अलग होती हैं, नियम भी अलग होते हैं।

कवि ने एक रूपक की भाषा में चामर को सामने लिया और उसकी क्रिया को मनुष्य के संबोध के लिए प्रस्तुत कर दिया। चामर, जो नीचे जा रहा है, ऊपर जा रहा है, वह सफेद है। वह यह बोधपाठ दे रहा है कि झुके

रहो, शुद्ध भाव रखो, सफेद बन जाओ। हमारे जैसा बन जाओ, तुम्हारी गति ऊंची होने वाली है।

आचार्य में काव्यात्मक प्रतिभा है। विलक्षण कवित्व के कारण एक स्वाभाविक क्रिया को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह मनुष्य के लिए बोधपाठ बन जाए—तुम्हें ऊर्ध्वगति करना है तो विनम्र रहो। उदण्ड मत बनो। झुकना सीखो। उदण्ड रहने वाला कभी ऊर्ध्वगति में नहीं जाता। जो झुकना नहीं जानता, उसका विकास कभी संभव नहीं है। बहुत अच्छी बात है झुकना। केलवा में जहां आचार्य भिक्षु ने अंधेरी ओरी में चौमासा किया था, वहां जिस द्वार से गमनागमन करते थे, आज भी कोई जाए तो उस द्वार से सीधा नहीं जा सकेगा। मन्दिर के सामने दरवाजे पर शिला है। उस द्वार से कोई जाएगा तो झुककर ही जाएगा।

अनेक बार मन में प्रश्न हुआ—केलवा की अंधेरी ओरी में भिक्षु स्वामी ने चार महीने कैसे बिताए होंगे। भिक्षु स्वामी में इतनी विनम्रता थी कि एक दिन नहीं, चार महीने तक झुक कर चलते रहे। उदण्डता से कोई फल प्राप्त नहीं होता, विनम्रता से फल प्राप्त होता है। ऊर्ध्वगति के दो हेतु हैं। एक है—विनम्र रहना, प्रणाम करना, झुकना और दूसरा है—विनम्रता के साथ पवित्रता, शुचिता। कहा जाता है—धूर्त, चोर, चतुर ज्यादा झुकता है, दूसरे लोग भी झुक जाते हैं किन्तु कोरा झुकना पर्याप्त नहीं है। झुकने के साथ शुद्ध भाव, पवित्र भाव होना चाहिए। जब झुकना व शुद्ध भाव दोनों मिलते हैं तब व्यक्ति उठता है, ऊर्ध्वगति होती है। उसका सिर ऊंचा होता है और ऊंची गति होती है।

कवि ने काव्य की भाषा में चामर को जीवन का निमित्त बनाकर उसकी प्रवृत्ति के द्वारा एक बोधपाठ दिया है कि हमें विनम्र होना चाहिए और पवित्र भाव, शुद्ध भाव के साथ झुकना चाहिए। अगर हम यह सीख जाएं तो निश्चित भविष्यवाणी भी की जा सकती है—जिसमें विनम्रता है, भावों की पवित्रता है, उसकी गति कभी नीची नहीं होगी। वह हमेशा ऊंची गति में जाने वाला होगा।

वस्तुतः स्तुति के माध्यम से आचार्य सिद्धसेन ने बहुत विलक्षण बोधपाठ दिया है। कोरा पाठ कंठस्थ कर लिया, अर्थ को समझ लिया, उससे लक्ष्य-प्राप्ति नहीं होगी। इस श्लोक पर मनन करें तो जीवन का एक चित्र बनाया जा सकता है और उसे नए रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। विनम्र व्यक्ति सबकी सद्भावना प्राप्त कर सकता है।

लक्षण ऊर्ध्वगति का १३१

इस संदर्भ में युधिष्ठिर की घटना मननीय है। महाभारत के युद्ध का प्रथम दिन था। युद्धस्थल पर कौरवों और पाण्डवों की सेनाएं युद्ध के लिए सुसज्जित होकर पहुंच चुकी थी। रणभेरी बजने वाली थी। रणभेरी बजने से पूर्व युधिष्ठिर रथ से उतरे और कौरवों की सेना में प्रवेश कर गए। उन्होंने भीष्मपितामह, कुलगुरु कृपाचार्य, गुरु द्रोणाचार्य एवं अन्य गुरुजनों को प्रणाम कर आशीर्वाद लिया। यह देखकर अर्जुन चिंतित हो गए। उसने श्रीकृष्ण से पूछा—‘युधिष्ठिर क्या कर रहे हैं?’

श्रीकृष्ण ने कहा—‘अर्जुन! गुरुजनों के प्रति विनम्र व्यवहार करके धर्मराज ने आधा महाभारत तो युद्ध से पूर्व ही जीत लिया है।’

जो व्यक्ति प्रकृति से विनम्र और विशुद्ध होता है वह सबकी सद्भावना और मंगलभावना सहज ही प्राप्त कर लेता है। उसके उत्थान को रोकना किसी के वश की बात नहीं होती।

२३. आकर्षण का कारण

आचार्य सिद्धसेन ने अर्हत् पार्श्व को नए-नए रूपों में देखा और प्रस्तुत श्लोक में उनका एक नया रूप व्यक्त किया। भगवान् पार्श्व का रंग नीला था। कुछ तीर्थकरों का रंग सुवर्ण की कांति के समान पीला बतलाया गया। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल था, चन्द्रप्रभ और सुविधिनाथ का रंग शुक्ल था, नेमि और मुनिसुव्रत का रंग कृष्ण था, मल्लिनाथ और पार्श्व का रंग नीला था। नीले रंग में एक अलग ही आकर्षण होता है।

दूसरा आकर्षण है भगवान् पार्श्व की वाणी का। तीर्थकरों की वाणी के पैंतीस अतिशय होते हैं। उनमें एक अतिशय है **मेघगम्भीरघोषत्वं**—मेघ के तुल्य गम्भीर ध्वनि वाला। वाणी वाणी में बहुत अंतर होता है। एक व्यक्ति बोलता है तो ऐसा लगता है कि वाणी ऊपर से आ रही है। जिस व्यक्ति की वाणी के प्रकंपन शक्ति-केन्द्र से शुरू होते हैं, वे प्रकंपन तैजस-केन्द्र पर आकर स्वरयंत्र में आते हैं, वह वाणी गंभीर हो जाती है। वाणी के प्रकंपन कंठ या जीभ से शुरू नहीं होते। संस्कृत व्याकरण में वाणी के आठ स्थान बतलाए गए हैं—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च, नासिकोष्ठौ च तालु च॥

उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु—ये वाणी के आठ स्थान हैं। वह वाणी गम्भीर कहलाती है जिसके प्रकंपन शक्ति-केन्द्र और स्वास्थ्य-केन्द्र से शुरू होते हैं, वे आगे बढ़ते-बढ़ते तैजस-केन्द्र पर आकर विद्युत् प्रकंपन बन जाते हैं। यह हमारा बिजली का स्थान है। यहां से जो वेग मिलता है, ऊर्जा व शक्ति मिलती है, उससे विद्युत्-ऊर्जा और अधिक बढ़ जाती है। विद्युत् के ये प्रकंपन बहुत काम करते हैं।

आज चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति का प्रचलन हो रहा है। चुम्बक का भी अपना महत्व है किन्तु जब चुम्बक के साथ बिजली का योग होता है तब वह अधिक शक्तिशाली बन जाता है। तैजस शरीर हमारे प्राण का, विद्युत् का

आकर्षण का कारण १३३

स्थान है। सारे प्रकंपन यहां आकर अधिक तेजस्वी बन जाते हैं, प्राणमय बन जाते हैं। वे प्रकंपन फिर ऊपर आते हैं। स्वरयंत्र के द्वारा, जीभ के द्वारा बाहर आ जाते हैं, तब वाणी गंभीर हो जाती है। पूज्य कालूगणी जब संगान करते, उस समय उनके गीत सुनने वाले लोग कहते कि ऐसा लगता है, साठी कुएं में से कोई लय निकल रही है। गम्भीर कुएं को राजस्थान में साठी का कुआं कहते हैं। साठी कुएं से जब रस्सी को निकालते हैं, तब ऐसा लगता है कि कुएं से कोई आवाज आ रही है। सिद्धसेन कह रहे हैं—आपकी गंभीर वाणी और नीला रंग दोनों ही आकर्षण के विषय हैं।

यह माना जाता है—जब तीर्थकर देशना देते हैं तब उनका आसन स्फटिकमय या हेम-रत्नमय जैसा लगता है। स्वर्णिम रत्नजटित सिंहासन पर बैठकर जब वे देशना देते हैं तो भव्य लोग उस देशना का आनन्द लेते हैं। भव्य लोगों की कल्पना शिखण्डी (मयूर) के रूप में की गई है। भव्य मयूर आपको एकटक देखने लग जाते हैं, अपलक अनिमेष देखते रहते हैं। सहज ही ध्यान का एक प्रयोग हो जाता है। प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है अनिमेष-प्रेक्षा—आंख को झपकाए बिना स्थिर होकर एकटक देखना, जिसे हठयोग की भाषा में त्राटक कहते हैं। आपको तन्मयता से देखते-देखते आंखें अपलक बन जाती हैं, सहज ही त्राटक हो जाता है।

आचार्य सिद्धसेन अर्हत् पार्श्व के इस रूप को उपमा के द्वारा बतला रहे हैं। स्वर्णगिरि पर जब मेघ आता है तब एक तरफ स्वर्णगिरि और एक तरफ मेघ का श्याम रंग। श्याम का अर्थ यहां काला नहीं है। श्याम का अर्थ काला भी किया जाता है। वास्तव में श्याम का अर्थ नीला होता है। श्रीकृष्ण का वर्ण भी नीला था, काला नहीं। आचार्य तुलसी ने भी भिक्षु स्वामी के लिए लिखा—सांवरा, श्याम-वर्ण वाले। भिक्षु स्वामी का रंग भी नीला था, नीली झांई वाला था। मुनि अमोलकचंद जी, जो राजलदेसर के थे, धर्मसंघ के बहुत अच्छे संत थे। उनका वर्ण नीला था। कुछ लोग नीलवर्ण के होते हैं। नीला रंग बहुत शक्तिशाली होता है।

उष्मा को मिटाने के लिए नीला रंग बहुत महत्वपूर्ण है। हमने इसके कई प्रयोग किए हैं। जो उष्मा-जनित समस्याएं औषध से भी नहीं सुलझ रही थीं, वे नीले रंग के प्रयोग से सुलझ गईं। रंग-चिकित्सा में भी नीले रंग का बहुत महत्व है। पार्श्व का चमकता हुआ नीला रंग आकर्षण का विषय बन गया, साथ में वाणी का गाम्भीर्य भी। सोने के पर्वत पर मेघ का आगमन

और गर्जारव। नीले रंग के मेघ को देखकर मयूर नाचने लग जाते हैं, उन्हें एकटक देखने लग जाते हैं। मेघ का गर्जारव, सोने का पर्वत और मयूरों का प्रफुलित होना आकर्षक लगता है। ठीक इसी प्रकार आप जब इस सिंहासन पर विराजमान होते हैं तब आपका नीला रंग और आपकी गंभीर वाणी इतना आकर्षण पैदा करती है कि लोग एकटक आपको देखने लग जाते हैं।

आकर्षण सब व्यक्तियों में समान नहीं होता। जिनमें तैजस-शक्ति बहुत कम होती है, उनमें आकर्षण नहीं होता। उनके पास बैठने का मन भी नहीं होता। अब तो मैं इस विषय की बहुत व्याख्या करता हूँ। किन्तु जब छोटा था, तब मेरे मन में एक प्रश्न उभरता था। मध्याह्न में आचार्य तुलसी विराजमान रहते, जनता को उपासना कराते। सैकड़ों बहिनें सामने बैठी रहती। एक भी शब्द न आचार्यश्री बोलते, न बहिनें बोलती। फिर भी वे वहां से जाना नहीं चाहती। उन्हें परम-तोष और तृप्ति का अनुभव होता। स्थूल दृष्टि से विचार करें तो यह प्रश्न होता है—केवल सामने बैठने और देखने से क्या मिलता है? सूक्ष्म तत्त्व की मीमांसा करें तो समाधान मिलता है—उस व्यक्ति की प्राणशक्ति में इतना आकर्षण होता है कि दो-चार घंटे बैठने पर भी उठने का मन नहीं होता।

आचार्य ने यह रहस्यपूर्ण बात बतलाई—प्रभो! आपके प्रति लोगों का आकर्षण है। आकर्षण का कारण है आपका श्याम वर्ण और आपकी गम्भीर वाणी। ये दोनों ही आकर्षण के विषय बने हुए हैं इसीलिए भव्य मयूर निरन्तर आपको अपलक देखते रहते हैं।

२४. प्रभाव पवित्र आभामंडल का

हर व्यक्ति का अपना आभामंडल होता है। मनुष्य का ही नहीं, पशु का भी आभामंडल होता है। आभामंडल व्यक्ति की पहचान में निमित्त बनता है। जब तक आभामंडल जीवित है, व्यक्ति जिन्दा है। जब व्यक्ति मरणासन्न होता है, अनेक बार मान लिया जाता है कि उसकी मृत्यु हो गई। जांच-परीक्षण कर डॉक्टर भी उसे मृत घोषित कर देते हैं। किन्तु जब तक आभामंडल नहीं मरता, व्यक्ति मरता नहीं है। श्वास रुकने पर दूसरों को लगता है कि व्यक्ति मर गया किन्तु वह कुछ घण्टे बाद जिन्दा हो जाता है। इसीलिए लोग कहते हैं कि वह भूत बनकर आया है। वस्तुतः वह भूत-प्रेत कुछ भी नहीं होता, केवल बाहर की क्रिया रुक गई उसके आधार पर मृत घोषित कर दिया गया। किन्तु उसके मस्तिष्क की मृत्यु नहीं हुई, उसका आभामंडल जीवित था।

आज के वैज्ञानिक पत्तियों पर प्रयोग कर रहे हैं। एक पत्ती तोड़ी, परीक्षण किया कि वह सजीव है या निर्जीव? वे उसकी फोटो लेते हैं। चार घंटा, पांच घंटा तक उसका आभामंडल काम करता है, तब तक मानते हैं कि वह सजीव है। आभामंडल समाप्त हुआ, इसका मतलब है कि निर्जीव हो गया। आभामंडल का एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है। वर्तमान में आभामंडल पर बहुत प्रयोग हो रहे हैं।

सिद्धसेन भगवान् पार्श्व के आभामंडल का विश्लेषण करते हैं—प्रभो! आप अशोक वृक्ष के नीचे विराजकर धर्मोपदेश देते हैं। उस समय आपके शरीर से नीले रंग का आभामंडल निकलता है। वह इतना शक्तिशाली होता है कि अशोक वृक्ष के लाल पत्र भी नीले हो जाते हैं। अशोक वृक्ष के पत्तों का रंग लाल होता है। आपके श्याम अथवा नील वर्ण वाले तेजस्वी आभामंडल से लाल पत्ते भी नीले बन जाते हैं। 'लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूवः' वे पत्ते अपनी छवि को खो देते हैं। अपनी लालिमा को खो कर नीले रंग के बन जाते हैं। इस स्थिति में आपकी सन्निधि में आकर यदि कोई सरागी वीतराग बन जाता है तो इसमें आश्चर्य क्या है? अशोक वृक्ष, जिसकी चेतना विकसित

१३६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

नहीं है, वह स्वयं और उसके पत्ते लालिमा को खो कर नीले बन जाते हैं तो फिर आपकी सन्निधि में आकर कोई व्यक्ति रागातीत क्यों नहीं बन सकता ?

इस श्लोक में बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया गया है। आभामंडल का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। एक व्यक्ति के पास बैठेंगे तो आपको आनन्द की अनुभूति होगी। दूसरे व्यक्ति के पास बैठेंगे तो मन होगा कि यहां से शीघ्र उठकर चले जाएं। जिसका आभामंडल पवित्र होता है और वह जितनी दूर तक होता है वहां एक अलग वातावरण बनता है।

पूज्य गुरुदेव राजलदेसर में विराज रहे थे। कनाडा का एक व्यक्ति एक बहुत बड़ा पेट्टीनुमा कैमरा अपने साथ लाया। वह सामान्य फोटो लेने वाला कैमरा नहीं था। उसने कहा—मैं आभामंडल का फोटो ले रहा हूं। हमने देखा कि पूरा कमरा उस रंग से भर गया। आभामंडल का रंग एक फुट, दो फुट, चार फुट दूर तक चला जाता है। आभामंडल जितना शक्तिशाली होता है, उतनी ही दूर तक वह फैल जाता है।

जहां तीर्थंकर विहार करते हैं वहां उनका आभामंडल कई योजन तक बड़ा हो जाता है इसीलिए उस परिधि के आसपास एक योजन तक कोई बीमारी नहीं होती। आज की भाषा में कहूं तो वहां वायरस, जर्म्स, कीटाणु, स्वाइन फ्लू, मलेरिया आदि-आदि बीमारियां नहीं होती। किसी तरह का कोई उपद्रव नहीं होता। इसका कारण है कि उस महान् आत्मा का आभामंडल और उसके परमाणु जितनी दूर तक फैलते हैं, वहां कोई उपद्रव या बीमारी नहीं होती। यह आभामंडल का ही चामत्कारिक प्रभाव है। फिर वृक्ष के पत्तों का रंग बदलना तो कोई बहुत बड़ी घटना नहीं है।

सिद्धसेन इसी तथ्य को प्रस्तुत कर रहे हैं—प्रभो! यह सब आपके आभामंडल की सन्निधि का प्रभाव है। जो लोग आभामंडल को जानते हैं, जिनको इस विषय का ज्ञान है, वे ही व्यक्ति उसकी अनुभूति कर सकते हैं। हर कोई यह नहीं जान सकता। आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो आभामंडल को पहचानते हैं और उसका प्रयोग करते हैं।

हम लोग पंजाब की यात्रा कर रहे थे। अहिंसा यात्रा के दौरान एक गांव में एक सरदार आया। बहुत लम्बे समय तक हमारे पास बैठा रहा। हम वहां से विहार कर दूसरे गांव चले गए। सूर्योदय से पहले-पहले वह व्यक्ति पहुंच गया। मैंने कहा—सरदार जी कैसे आए? बोला—चार बजे चला था, अब यहां

प्रभाव पवित्र आभामंडल का १३७

पहुंच गया। फिर उसने कहा—मुझे आपके पास बैठना है। आपके पास बैठने से मुझे अपूर्व सुख मिलता है। हमारी यात्रा का क्रम चल रहा था। वह कई दिनों तक प्रतिदिन आता रहा। साइकिल से रात को चलता, ब्राह्मवेला में हमारे पास पहुंचता। एक-दो घंटे हमारे पास बैठता, फिर चला जाता।

किस व्यक्ति के पास बैठने से कैसा वातावरण बनता है, कैसा मन बनता है, शरीर की स्थिति कैसी बनती है? प्रमोद आह्लाद कैसा होता है? विषाद कैसे दूर होता है? यह एक बहुत बड़ा विज्ञान है और इसके द्वारा बहुत परिवर्तन भी होता है।

हिन्दुस्तान में बहुत सत्संग चलते हैं। सत्संग पर बहुत संतों ने लिखा है। सत्संग का बड़ा महत्त्व है, किन्तु पहले यह देखना चाहिए कि सत् है या नहीं। संग तो ठीक है पर पीछे सत् है या असत्। अगर असत् के पीछे चले जाएं तो राग की चेतना जाग जाएगी और अगर सत् है तो क्षमा, वैराग्य और अनासक्ति की चेतना जाग जाएगी। इसलिए ध्यान देना जरूरी है कि हम किसकी संगति कर रहे हैं? व्यवहार में कहा जाता है कि अच्छे आदमी की संगति करो। गलत आदमी की संगति मत करो। वस्तुतः यह आभामंडल के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका तात्पर्य है—जिसमें सात्त्विकता है, उज्ज्वलता है, निर्मलता है उसकी संगति करो, अच्छे बन जाओगे। जिसमें सात्त्विकता नहीं है, उज्ज्वलता नहीं है, निर्मलता नहीं है अगर उसके पास चले गए तो अच्छे संस्कारों का आरोपण नहीं होगा।

पवित्र आभामंडल का सौन्दर्य और प्रभाव विलक्षण होता है। जहां पवित्रता है वहां सौन्दर्य है, अतुलनीय प्रभाव है। तीर्थकर का आभामंडल अतिशय पवित्र होता है इसलिए वहां आने वाले व्यक्ति की सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

२५. जरूरत है सार्थवाह की

तीर्थकर का एक प्रातिहार्य है देवदुन्दुभि। यह माना जाता है—जहां तीर्थकर होते हैं वहां आकाश में देवदुन्दुभि बजाई जाती है। यह एक अतिशायी घटना है, स्थिति है। इस देवदुन्दुभि के आधार पर आचार्य एक कल्पना करते हैं और एक नया घोष जनता को देते हैं—आकाश में देवदुन्दुभि बज रही है, उसे सुनो। दुन्दुभि का नाद यह बता रहा है कि अगर तुम्हें मोक्ष जाना है तो प्रमाद को त्याग कर अप्रमाद की साधना करो। साथ में यह भी बताया कि मोक्ष जाने के लिए सार्थवाह की जरूरत है।

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में सार्थवाह की व्यवस्था रही है। प्राचीन भारत में जंगल बहुत थे। अकेला व्यापारी यदि व्यापार हेतु कहीं दूसरे प्रदेश में जाता तो अनेक कठिनाइयां सामने आतीं। उस समय सड़कें नहीं थी, जंगलों में चोर, लुटेरों और हिंसक पशुओं का आतंक रहता था। इन सब कठिनाइयों से बचने एवं सुरक्षित यात्रा के लिए सार्थवाह की व्यवस्था बनी। एक-दो समर्थ-संपन्न आदमी घोषणा करते कि मैं कोलकाता जा रहा हूं, किसी को जाना है तो मेरे साथ आ जाओ। तुम्हारी सारी व्यवस्था का दायित्व मेरा होगा। सुरक्षा, भोजन, पानी आदि की सारी व्यवस्था सुलभ होगी। वह समर्थ सार्थवाह सैकड़ों-सैकड़ों लोगों को अपने साथ ले जाता था और उन्हें वहां व्यापार में नियोजित कर देता था, कुछ काम दे देता था। यह एक सामुदायिक व्यवस्था थी, जिसके द्वारा असमर्थ लोगों को सहारा मिल जाता।

दो प्रकार के लोग हमारी दुनिया में हैं—समर्थ और असमर्थ। कुछ लोग बहुत समर्थ हैं और कुछ लोग असमर्थ। समर्थ लोग असमर्थ लोगों को सहारा नहीं देते हैं तब प्रतिक्रियात्मक हिंसा पैदा होती है। आज नक्सलवाद और आतंकवाद क्यों पनप रहा है? इसका कारण यही है कि समर्थ लोग असमर्थ लोगों को सहारा नहीं दे रहे हैं। इसीलिए जो असमर्थ हैं उनके मन में एक प्रतिक्रियात्मक आग या चिनगारी पैदा होती है और वह चिनगारी फिर फैल जाती है। वे यह नहीं सोचते कि क्या करना है? आज हिन्दुस्तान में जो हिंसा

जरूरत है सार्थवाह की १३६

हो रही है, उसमें प्रतिक्रियात्मक हिंसा ज्यादा हो रही है। आतंकवाद के अनेक संगठन बन गए हैं। इसका एक कारण यह है कि सार्थवाह की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। अगर आज भी सार्थवाह की व्यवस्था होती, समर्थ व्यक्ति असमर्थ को सहारा देता और सबके लिए व्यवस्था करता तो शायद इन हिंसक संगठनों को पनपने का मौका नहीं मिलता।

आचार्य सिद्धसेन कह रहे हैं—देखो, देव दुन्दुभि बजा रहे हैं। उसको सुनो, उसके नाद को सुनो, उसकी ध्वनि को सुनो। उसका सार समझो। वह सार यह है कि अब भी प्रमाद में क्यों बैठे हो? मोक्षरूपी एक ऐसे स्थान की तरफ प्रस्थान की तैयारी करो जो आनन्दमय है, सुखमय है, जिसे तुम जानते नहीं हो। उसे जानो और वहां जाना चाहो तो जाओ। उस दुर्गम पथ पर अकेले नहीं जा सकते। वहां जाने के लिए एक सार्थवाह की जरूरत है। वह सार्थवाह है—भगवान्। इस निवृत्तिपुरी में ले जाने के लिए वही सक्षम है। उसकी यह घोषणा है कि जो भी मोक्ष में जाना चाहते हैं, वे सब मेरे पास आ जाओ। तुम्हें मैं मुक्ति में पहुंचा दूंगा। एक समाज की व्यवस्था थी और उसके साथ धार्मिक व्यवस्था भी।

कोई व्यक्ति धर्मक्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है, मोक्ष की ओर प्रस्थान करना चाहता है, तो वह एकाकी नहीं जा सकता। उसे सार्थवाह की जरूरत होती है। इसीलिए गुरु-परम्परा चली है। गुरु-परम्परा सार्थवाह का काम करती है। एक बहुत सुन्दर व्यवस्था है। समाज के क्षेत्र में कोई सार्थवाह न हो तो असमर्थों का सहारा कौन बने? यदि धर्म के क्षेत्र में गुरु न हो तो अकेला व्यक्ति कैसे मार्ग खोज सकता है? अकेला व्यक्ति कैसे तत्त्व को जान सकता है? अकेला व्यक्ति कैसे मोक्ष के मार्ग को पकड़ सकता है?

आचार्य ने देवदुन्दुभि के सहारे एक बहुत बड़ी सचाई व्यक्त की है, वह यह है कि जहां समाज व्यवस्था का प्रश्न है, वहां सार्थवाह की जरूरत है और जहां आत्मा या धर्म का प्रसंग है, वहां अर्हत् पार्श्व जैसे मार्गद्रष्टा की आवश्यकता है।

२६. कहां है मोह की सत्ता ?

तीर्थकरों का एक अतिशय है—जहां तीर्थकर विराजमान होते हैं, देशना देते हैं, उस समय उनके सिर पर तीन छत्र होते हैं। आज भी मंदिरों में मूर्तियों के ऊपर छत्र देखे जा सकते हैं। इस संदर्भ में आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—छत्र को केवल छत्र की दृष्टि से मत देखो। तीर्थकर के सिर पर तीन छत्र क्यों रहते हैं? इस प्रश्न पर गहराई से विचार करो।

कल्याण मंदिर के प्रत्येक श्लोक में आचार्य ने नए-नए रहस्यों का उद्घाटन किया है। सिद्धसेन कह रहे हैं—तुम्हें जो छत्र दिखाई दे रहा है वह कोरा छत्र नहीं है। आचार्य बताते हैं कि अर्हत् पार्श्व ने अंधकार में उद्योत फैलाया। सूर्य का आतप होता है और चन्द्रमा का उद्योत। आतप गर्म होता है और उद्योत ठंडा। जब पार्श्व ने अपना उद्योत फैलाया तब चन्द्रमा ने सोचा कि अब मेरी कोई जरूरत नहीं है। मैं रात्रि के अंधकार में उद्योत फैलाता हूं, किन्तु पार्श्व का उद्योत इतना ज्यादा है कि उनके सामने मेरा उद्योत कुछ भी नहीं है। चन्द्रमा ने सोचा—‘विहताधिकारः’ अब मेरा अधिकार समाप्त हो गया, अब मेरा कोई काम ही नहीं रहा, प्रयोजन ही नहीं रहा। बात समाप्त हो गई।

यह चिन्तन कर चन्द्रमा ने त्रिमूर्ति रूप शरीर का निर्माण किया और पार्श्व के सिर पर आने वाले आतप का निवारण करने लग गया। छत्र का नाम है—आतपत्रम्—आतपात् त्रायते इति—आतप से बचाने वाला, धूप से बचाने वाला, वह आतपत्र—छत्र बन गया। चन्द्रमा के साथ तारे होते हैं। छत्र के साथ मुक्ता लड़ियां विद्यमान हैं। वे तारों के रूप में अपने आपको प्रस्तुत कर रही हैं और उन्होंने अपने आपको अर्हत् पार्श्व की सेवा में लगा दिया है।

काव्य की भाषा में, रूपक में जो रहस्य है, वह यह है—बाह्य-जगत् में उद्योत करने वाला है चन्द्रमा। रात्रि में तारों का प्रकाश कम होता है इसलिए वह धरती तक कम पहुंचता है। धरती पर चन्द्रमा का प्रकाश पहुंचता है और वह शीतल होता है। चन्द्रमा का उद्योत बहुत ठण्डा होता है। योग की भाषा

कहां है मोह की सत्ता? १४१

में उस पर ध्यान के प्रयोग किए जाते हैं। पार्श्व ने जो प्रकाश फैलाया वह उद्योत है।

दिन में सूर्य का प्रकाश होता है। सूर्य अस्त होता है, अंधकार व्यापक बन जाता है। रात्रि में सूर्य की विद्यमानता नहीं है। उस स्थिति में कौन उद्योत करता है? पहले दीया जलाया जाता था। कभी लालटेन, कभी मोमबत्ती जलाई जाती थी। आज बिजली जलाई जाती है। ये सब अंधकार में प्रकाश करने वाले हैं। सूर्य की अनुपस्थिति में जो अंधकार होता है, उस समय प्रकाश करना बड़ी बात है।

प्रभो! मनुष्य के हृदय में बहुत अंधकार छाया हुआ है। वहां सूर्य भी नहीं पहुंचता। वहां मोह के अंधकार का साम्राज्य है। मोह का अंधकार जितना सघन होता है, दूसरा कोई भी अंधकार उतना सघन नहीं होता। मोह के अंधकार को तो सूर्य का प्रकाश भी मिटा नहीं सकता। प्रकाश करने वाली कोई भी दीपमाला उसे समाप्त नहीं कर सकती। उस मोह के अंधकार को मिटाकर आपने शीतल प्रकाश फैलाया है। चन्द्रमा ने देखा—मैं जो कार्य नहीं कर सकता वह कार्य भगवान् पार्श्व कर रहे हैं। मुझमें यह ताकत नहीं है कि मैं मोह के अंधकार को मिटा दूं। मनुष्य के अंतःकरण में जो अंधकार विद्यमान है, वह दिन में भी रहता है और रात में भी। सूर्य के प्रकाश में भी रहता है और चन्द्रमा के उद्योत में भी। जिस अंधकार को मिटाने की कोई भी प्रकाशमान वस्तु दुनिया में नहीं है उस अंधकार को भगवान् पार्श्व मिटा रहे हैं।

चन्द्रमा अनुरक्त और प्रभावित हो गया। उसने चिन्तन किया और आपकी सेवा में आ गया। उसने अपने शरीर को त्रिमूर्ति रूप बना लिया। यहां चन्द्रमा स्वयं त्रिमूर्ति रूप बनकर आपकी उपासना कर रहा है और इसलिए कर रहा है कि आपके समान कोई दूसरा व्यक्ति इस भीतर के अंधकार को मिटाने वाला नहीं है। यह सूचना देने के लिए वह त्रिमूर्ति बनकर आपकी आराधना कर रहा है।

बहुत बड़ी बात है अंदर के अंधकार को मिटा देना, मोह के अंधकार को मिटा देना।

एक पौराणिक प्रसंग है। अंधकार इंद्र के पास गया। इंद्र ने पूछा—बोलो भाई! क्यों आए हो?

अंधकार—‘मेरी एक समस्या है, आप समाधान करें।’

१४२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

इन्द्र—‘क्या समस्या है तुम्हारी?’

अंधकार—‘प्रभो! यह सूर्य मेरा पीछा कर रहा है। मैं जहां जाता हूं, पीछे-पीछे आता है और मुझे वहां से भगा देता है। इस दुनिया में सबको जीने का अधिकार है फिर यह सूर्य मुझे क्यों सता रहा है? आप इसका न्याय करें।’

इन्द्र—‘तुम्हारी बात ठीक है। ऐसा नहीं होना चाहिए।’

इन्द्र ने सूर्य को बुलाया और कहा—‘तुम अंधकार को क्यों सता रहे हो? क्यों उसका पीछा कर रहे हो? सबको अपने अस्तित्व की सुरक्षा का अधिकार है।’

सूर्य ने कहा—‘मैं किसी को नहीं सता रहा हूं। मैं तो जानता भी नहीं हूं कि अंधकार कौन है और उसकी सत्ता कहां है? मैंने उसे कभी कहीं देखा भी नहीं है। यह झूठा आरोप है कि मैं अंधकार को भगाता हूं।’

जानामि नाहं सरलं ब्रवीमि,
किमन्धकारं क्व च तस्य सत्ता?
न चास्ति दृष्टः क्व च नेति सूर्यः,
तमोऽपवादं च निराचकार॥

सूर्य को क्या पता कि अंधकार क्या होता है? वह अंधकार को देखता ही नहीं है। उसके आगमन की आहट पाते ही अंधकार भाग जाता है। उसने कभी भी अंधकार के दर्शन ही नहीं किए।

इन्द्र ने कहा—‘तब ठीक है। तुम नहीं जानते तो बात समाप्त करते हैं।’

इसी रूपक को दूसरे संदर्भ में प्रस्तुत कर रहा हूं—

जानामि नाहं सरलं ब्रवीमि,
किमन्धकारं क्व च तस्य सत्ता?
न चास्ति दृष्टः क्व च नेति सूर्यः,
मोहापवादं च निराचकार॥

मोह इन्द्र के पास गया। जाकर बोला—‘मेरी बड़ी समस्या है, आप समाधान करें।’

इन्द्र—‘क्या समस्या है?’

‘यह धर्म मेरा पीछा कर रहा है। मैं जहां जाता हूं। वहां आता है और मुझे भगाने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी मुझे भगा भी देता है। मुझे भी तो

कहां है मोह की सत्ता? १४३

अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना है। मुझे भी तो जीने का अधिकार है। यह धर्म मेरे पीछे क्यों पड़ा हुआ है?’

इन्द्र ने धर्म को बुलाया और कहा—‘भाई! तुम इसका पीछा क्यों कर रहे हो?’

धर्म बोला—‘प्रभो! मैं जानता ही नहीं कि मोह कौन है और उसकी सत्ता कहां है? मैंने कभी उसको देखा ही नहीं है। मैं किसका पीछा करूं?’

इस रूपक का सारांश यह है कि जहां सूर्य है, वहां अंधकार टिकता ही नहीं है। जहां धर्म है, वहां मोह ठहरता ही नहीं है। अंधकार को मिटाने का साधन है सूर्य और मोह को मिटाने का साधन है धर्म, अध्यात्म, आत्मा की अनुभूति।

पार्श्व की स्तुति में सिद्धसेन ने यह भाव अभिव्यक्त किया है कि प्रभु पार्श्व ने मोह के अंधकार को नष्ट किया है। इसी से प्रभावित होकर चन्द्रमा ने सोचा कि अब मुझे आकाश में क्यों रहना चाहिए? इस चिन्तन के साथ ही वह त्रिमूर्ति बनकर आपका छत्र बन गया।

हम काव्य के सार को समझने का प्रयत्न करें। साहित्य के साथ अध्यात्म और दर्शन तीनों रूपों में जिस प्रकार आचार्य सिद्धसेन पार्श्व की वंदना कर रहे हैं, वह सचमुच उनकी साधना और वैदुष्य का एक प्रतिफलन प्रतीत हो रहा है।

२७. कांति, प्रताप और यशस्विता का रहस्य

जहां तीर्थंकर प्रवचन करते हैं वहां समवसरण की रचना होती है। समवसरण के चारों ओर तीन प्राकार (कोट) बनाए जाते हैं और वे देव-निर्मित होते हैं। एक प्राकार माणिक्य से, एक प्राकार सोने से और एक प्राकार चांदी से निर्मित होता है। आचार्य कल्पना कर रहे हैं कि ये तीन प्राकार क्यों? फिर गहराई में गए, उसे और अधिक समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—हमें स्थूल रूप में तो तीन कोट दिखाई दे रहे हैं, पर ये वास्तव में माणिक्य, सोने व चांदी के नहीं हैं।

प्रभो! आपकी कान्ति, आपका प्रताप और आपका यश—इन तीनों प्राकारों के रूप में खड़ा हो गया। आपका इतना यश है, जो चांदी की तरह चमक रहा है। आपका इतना प्रताप है, जो सोने की तरह दमक रहा है और आपकी इतनी कान्ति है जो माणिक्य की भांति प्रभास्वर बन रही है। ये तीन कोट तो मात्र प्रतीक हैं। यथार्थतः आपके कांति, प्रताप व यश ने अभिनव रूप धारण कर लिया और वे तीन लोक में पिण्डित हो गए। पिण्डीभूत होकर, एकत्र होकर कान्ति, प्रताप व यश के प्राकार बना दिये।

जहां भगवान् का समवसरण है वहां देवता भी आते हैं, इन्द्र भी आते हैं। उस परिषद् में एक स्थान देवों के लिए आरक्षित होता है।

राजा दशार्णभद्र की घटना विश्रुत है। दशार्णभद्र भगवान् महावीर का परम भक्त था। भगवान् महावीर उसके नगर में आए। राजा दशार्णभद्र ने सोचा—मैं भगवान् के दर्शन करने इस रूप में जाऊं, जिस रूप में आज तक कोई नहीं गया। वह पूर्णतः सज्जित होकर अपने वैभव और ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए भगवान् महावीर के समवसरण में जाने के लिए प्रस्थित हुआ। कहा जाता है—शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से राजा के अहं-भाव को देखा। उसने राजा दशार्णभद्र को पराभूत करने का निश्चय किया। अपनी वैक्रिय लब्धि से इंद्र ने विशाल हाथी का निर्माण किया, जिसके पांच सौ मुख थे, प्रत्येक मुख पर आठ-आठ दंतशूल, प्रत्येक दंतशूल पर आठ-आठ जलाशय, प्रत्येक जलाशय पर लाख पंखुड़ियों

कांति, प्रताप और यशस्विता का रहस्य १४५

वाला कमल का फूल और फूल की प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक। उस विशालकाय हाथी पर सवार होकर शक्रेन्द्र आए। राजा दशार्णभद्र शक्रेन्द्र की ऋद्धि को देख कर स्तब्ध रह गया। उसका अहंकार विगलित हो गया, सोचा—अब मैं क्या करूँ? मैं वैभव और ऐश्वर्य से इसे पराभूत नहीं कर सकता।

दशार्णभद्र ने तत्काल एक निश्चय किया और भगवान् महावीर से निवेदन किया—‘भंते! मैं मुनि बनना चाहता हूँ।’

भगवान् महावीर ने उसके अनुरोध को स्वीकार कर लिया। वह महावीर के शासन में दीक्षित होकर सर्वत्यागी बन गया।

शक्रेन्द्र इस त्याग के प्रति प्रणत हो गया, बोला—मुनि दशार्णभद्र! आप जीते, मैं हारा। मैं आपके त्याग की बराबरी नहीं कर सकता।

जहां त्याग है, जहां अकिंचनता है, वहां कांति है, प्रताप है, यश है। जहां भोग है वहां व्यक्ति श्रीहीन और तैजस-विहीन होता चला जाता है।

संस्कृत शब्दकोश में कांति का एक पर्यायवाची शब्द है ‘श्री’। प्रेक्षाध्यान में मंगलभावना का प्रयोग कराया जाता है, उसका प्रथम पद है—श्री संपन्नोऽहं स्याम्—मैं श्री संपन्न बनूँ। ‘श्री’ शब्द का एक अर्थ किया जाता है—‘लक्ष्मी’। वस्तुतः श्रीसंपन्न वह होता है जो पवित्र आध्यात्मिक आभा से संपन्न होता है। जो केवल बुद्धि-संपन्न होता है, किन्तु अनुशासन और संयम से संपन्न नहीं होता वह श्रीसंपन्न नहीं होता। अनुशासन और संयम से शून्य केवल बौद्धिक विकास मानसिक संताप का कारण बनता है—

ही से धी अनुशासित होती,
श्री बढ़ती है अपने आप।
केवल बौद्धिक संवर्धन से,
बढ़ता है मानस-संताप॥

जहां बुद्धि ही यानी लज्जा अथवा संयम से अनुशासित होती है, वहां ‘श्री’ स्वतः बढ़ती है। जहां ‘श्री’ बढ़ती है वहां प्रताप भी बढ़ता है और यश भी। जहां केवल बौद्धिक विकास होता है, अनुशासन और संयम का विकास नहीं होता, भावनात्मक विकास नहीं होता वहां ‘श्री’ वर्धमान नहीं बनती। वहां प्रताप नहीं बढ़ता, अपितु मानसिक संताप बढ़ता है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने शांतसुधारस भावना में इस सचाई को बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति दी है—

१४६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

स्फुरति चेतसि भावनया बिना, न विदुषामपि शांतसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाकुले॥

विद्वान् व्यक्तियों के चित्त में भी भावना के बिना शांति उत्पन्न नहीं होती, शांति के बिना इस मोहाकुल जगत् का तनिक भी सुख उपलब्ध नहीं होता।

जहां शांति नहीं है, सुख नहीं है, वहां श्री का विकास कैसे होगा? कांति कैसे बढ़ेगी? तेजस्विता कैसे बढ़ेगी? और कैसे जीवन यशस्वी बनेगा?

आचार्य ने तीन प्राकार के माध्यम से इस सचाई को प्रस्तुत किया है—चांदी जैसा उजला यश, सूर्य जैसा दिव्य प्रताप और माणिक्य जैसी विलक्षण कांति सबके हृदय का स्पर्श कर रही है। क्योंकि आप इन्द्रिय चेतना से परे, बुद्धि की चेतना से परे आध्यात्मिक चेतना में लीन बन गए हैं। आपकी कांति, प्रताप और यशस्विता का रहस्य यही है।

यदि हम इस रहस्य को समझें, इन्द्रिय और बुद्धि से परे की चेतना की दिशा का अनावरण करें तो हम अपने जीवन में माणिक्य जैसी कांति, सूर्य जैसी तेजस्विता और चांदी जैसा उजला यश अर्जित कर सकते हैं।

२८. पवित्र रहे मन

रतनगढ़ में अक्षय तृतीया का कार्यक्रम था। एक भाई आया और बोला—‘आज एक भूल हो गई। मुझे दिव्यात्मा का आभास हुआ। वे यहां आना चाहते थे, पर उन्होंने कहा—मेरे लिए कोई स्थान ही खाली नहीं रखा, मैं आकर कहां बैठूं?’ अभी जो देवता आते हैं वे दिखाई देते हैं या नहीं, यह पता करना बड़ा कठिन है। हो सकता है कि भगवान् के समवसरण में प्रकट रूप में देवता आते हैं, चरणकमल में नमस्कार करते हैं और जब नमस्कार करते हैं, झुकते हैं तब उनके मुकुट पर शोभित फूलों की माला मुकुट को छोड़कर आपके चरणों में आ जाती है। ऐसा क्यों होता है?

कवि ने कल्पना बहुत सुन्दर की है—जो सुमनस है, अच्छे मन वाला है, वह आपके पादारविन्द को छोड़कर दूसरी जगह कैसे रमण करेगा? चाहे इन्द्र का मुकुट भी क्यों न हो? वह वहां नहीं रहना चाहेगा, वह तो आपके चरणों में ही रहना चाहेगा। यही कारण है कि पुष्प की माला भी इन्द्र के मुकुट को छोड़कर आपके चरणों में आ जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कौन व्यक्ति कहां रहना चाहता है? सुमन व्यक्ति हर जगह रह नहीं सकता।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। मौर्य साम्राज्य बहुत शक्तिशाली था। इस साम्राज्य में चन्द्रगुप्त, सम्राट् अशोक, सम्राट् संप्रति आदि-आदि अनेक महत्त्वपूर्ण राजा हुए। यूनान का राजदूत आया। राज्यसभा में गया, देखा—बातचीत हो रही है। सब लोग चाणक्य की प्रशंसा कर रहे हैं। राज्यसभा समाप्त हो गई। राजदूत ने कहा—मैं चाणक्य से मिलना चाहता हूं। लोगों ने कहा—गंगा के किनारे चले जाओ, वहां तुम्हें महामंत्री मिल जाएंगे। वह गंगा के किनारे पर गया, देखा—एक लम्बा-चौड़ा, बड़े कद का आदमी गंगा के तट पर स्नान कर रहा है। उसने स्नान किया, फिर अपने कपड़ों का प्रक्षालन किया।

यूनान का राजदूत उसके पास जाकर बोला—‘भैया! महामात्य चाणक्य कहां रहते हैं? उनका भवन कौन-सा है?’

१४८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आदमी ने संकेत करते हुए कहा—‘देखो, सामने वह झोंपड़ी है, चाणक्य उस झोंपड़ी में रहता है।’

राजदूत समझ नहीं सका, कल्पना भी नहीं कर सका कि इतने विशाल साम्राज्य का महामंत्री इस तरह झोंपड़ी में रहता है।

राजदूत आश्चर्य के साथ झोंपड़ी के पास पहुंचा। उसने देखा कि झोंपड़ी खाली पड़ी है। उसके भीतर कोई नहीं है। उसने सोचा कि मुझे गलत पता बता दिया। झोंपड़ी में तो कोई नहीं है। वह संदेह के झूले में झूल रहा था। इतने में एक आदमी आया और पीछे खड़ा हो गया। उसने कहा—‘भैया! यहां महामात्य चाणक्य कहां हैं?’

चाणक्य बोला—‘यूनान के राजदूत! स्वागतम्, आपका स्वागत है।’

‘कौन हैं आप?’

‘मेरा नाम चाणक्य है।’

राजदूत यह देख विस्मित रह गया कि इतने बड़े साम्राज्य का महामंत्री इस झोंपड़ी में रहता है। ‘मुद्राराक्षस’ नामक संस्कृत ग्रन्थ में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। उस झोंपड़ी में थोड़ा घास-फूस पड़ा है, अग्नि जलाने के लिए थोड़े उपले पड़े हैं, थोड़े कागज पड़े हैं। बस ये ही चीजें हैं।

राजदूत विस्फारित नेत्रों से अपलक देखता रहा, पूछा—‘महामात्य! आपका इतना बड़ा साम्राज्य है। आपका तो कोई बड़ा महल होना चाहिए था। आप इस झोंपड़ी में रहते हैं?’

चाणक्य—‘राजदूत महाशय! हम लोग प्रजा की सेवा के लिए हैं, महलों में रहने के लिए नहीं हैं। अगर मैं महल में रहूंगा तो प्रजा झोंपड़ी में रहेगी और मैं झोंपड़ी में रहूंगा तो प्रजा महलों में रहेगी, अच्छे भवनों में रहेगी। मैं प्रजा को सुखी देखना चाहता हूं। प्रजा सुविधा में रहे, मुझे सुविधा की जरूरत नहीं है।’

क्या आज ऐसी कल्पना की जा सकती है? आज कोई महामंत्री या मंत्री होगा तो उसके साथ सुरक्षा कमाण्डो होंगे, उसके कोई बड़ी कोठी होगी। सुविधाओं का अम्बार, बड़ी-बड़ी कुर्सियां, गद्देदार बिस्तर, पता नहीं कितना राजसी ठाट-बाट होता है। चाणक्य के पास तो कुछ नहीं था। उसका यह सूत्र बहुत महत्वपूर्ण है—शासक वर्ग यदि महलों में रहेगा तो प्रजा के हिस्से में तो झोंपड़ी ही आयेगी। उन्हें महल कहां मिलेंगे? शासक सुविधा में रहेगा तो प्रजा

पवित्र रहे मन १४६

को वह सुविधा कैसे प्राप्त होगी? सुमन व्यक्ति तो वहीं रहेगा जहां रहने से अधिकतम लोगों का हित हो। शायद पुष्प का नाम इसीलिए सुमनस है कि वह अच्छे स्थान पर रहना पसन्द करता है।

प्रभो! इन्द्र के मस्तक पर मुकुट है और मुकुट पर माला है। वह माला मुकुट को छोड़कर आपके चरणों में आ गई है। ऐसा लगता है कि महलों को छोड़कर झोंपड़ी में आ गई है और यहां रहना चाहती है। पार्श्व के चरण तो धरती पर स्फटिक के शिलापट्ट पर रहते हैं। कहां इन्द्र का वह मूल्यवान मुकुट और कहां आपके चरण!

रत्नों से खचित मौलिबंध को छोड़कर प्रभु के चरणों में माला का आना यह सूचना देता है कि अगर आपको अच्छा मन रखना है तो महलों में रहने की बात न सोचें, धरती पर रहने की बात सोचें। यह बहुत मर्म की बात है। जो व्यक्ति धरती से जुड़ा हुआ है वह बहुत काम कर सकता है। जो सदा महलों में रहता है वह सुविधा का भोग करता है पर वह प्रजा को कभी सुखी नहीं बना सकता। यदि वह लक्ष्य बनाता है कि प्रजा सुखी रहे, जनता सुखी रहे तो महलों की सुविधाओं को छोड़कर उसे झोंपड़ी में जाना होगा, उसे सुमनस् बनना होगा। यदि मन अच्छा नहीं है, सुमनस् नहीं है तो फिर वह झोंपड़ी को छोड़कर महलों की सुविधाओं में रहेगा।

एक सामाजिक स्थिति और एक शाश्वत सचाई को आचार्य ने प्रकट किया है। अगर हमारा शासक वर्ग सुविधावादी बन गया, केवल सुविधा का भोग करेगा, अधिक से अधिक पदार्थों का भोग करेगा फिर वह प्रजा के सुख की बात नहीं सोच सकता।

हम धर्म के एक सूत्र को पकड़ें। भगवान् महावीर ने कहा—

**सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स, दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।।**

उस साधु की गति अच्छी नहीं होती जो हमेशा यह सोचता है कि मुझे सुख-सुविधा मिले। मैं आराम से बैठा रहूं। कोई श्रम नहीं करना पड़े। आनन्द भोगता रहूं। जो निरन्तर सुख-सुविधा की चाह करता है उसे सुगति सुलभ नहीं होती। भोजन किया और दो-तीन घण्टे निश्चिन्तता के साथ सो गया। साधु गृहस्थ के घर जाता है, सीधा भोजन मिल जाता है। लोग भक्ति से देते हैं। उसे खाओ और फिर मौज करो। यह अच्छे साधु का लक्षण नहीं है।

१५० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

पूज्य गुरुदेव तुलसी अहमदाबाद में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। गुरुदेव ने कहा—मुनि जम्बूविजय जी यहां हैं, आगमों पर अच्छा कार्य किया है और कर रहे हैं। उनसे मिलो। हम उनके प्रवास स्थल पर गए, उनसे मिले। हमने कहा—आप अकेले ही काम कर रहे हैं?

उन्होंने कहा—क्या करूं? मैं तो आहार करते ही कुछ समय बाद काम में लग जाता हूं। दूसरे जो साधु-महाराज आते हैं, वे तीन-तीन घण्टे विश्राम करते हैं। फिर ऐसे काम कैसे होगा?

हम गृहस्थ की बात ही छोड़ दें, सुविधावादी प्रकृति वाला साधु भी सुमनस नहीं हो सकता। वह प्रजा का हित नहीं कर सकता और अपना भी हित नहीं कर सकता।

सुमनस का बहुत अच्छा विवेचन ठाणं सूत्र में है। सुमन यानी फूल ने भी एक अच्छी बात सोच ली कि मुझे इन्द्र के मुकुट पर नहीं रहना है, भगवान् की चरणधूलि में रहना है। अगर फूल भी ऐसी बात सोच सकता है तो एक शिक्षित और विकसित मस्तिष्क वाला आदमी ऐसा क्यों न सोचे कि मुझे सुविधा का भोग कर, सुविधाओं में जीवन बिताकर, जीवन को व्यर्थ नहीं करना है। उसका चिन्तन इस बिन्दु पर केन्द्रित रहना चाहिए—मुझे धर्म की धूलि में रहना है, कठोर जीवन जीना है जिससे मैं सुमनस् बन सकूँ, मेरा मन सदा पवित्र बना रह सके।

२६. पराङ्मुख होना भी सीखें

जिस व्यक्ति का शब्दकोश समृद्ध होता है, उसे विचारों की अभिव्यक्ति में बहुत सुविधा हो जाती है। शब्दकोश छोटा होता है तो ज्यादा विचार भी नहीं कर सकता और ज्यादा बोल भी नहीं सकता। वक्ता तभी मुक्तभाव से बोल सकता है जब उसका शब्दकोश समृद्ध होता है। लेखक तभी अच्छा लिख सकता है जब उसका शब्दकोश समृद्ध होता है। विचारक भी तभी विचार कर सकता है जब उसका शब्दकोश समृद्ध होता है। कवि के लिए भी यही नियम है। जिसका शब्दकोश समृद्ध है वह अच्छी काव्य-रचना कर सकता है। वह काव्य में शब्दों को इस प्रकार संयोजित करता है कि अपने आप नए-नए तथ्यों की अभिव्यक्तियां हो जाती हैं।

आचार्य सिद्धसेन का शब्दकोश बहुत समृद्ध था, विचार-शक्ति भी समृद्ध थी और कवित्व भी समृद्ध था। वे इन सारी शक्तियों से संपन्न थे इसलिए स्तुति करते-करते एक नई कल्पना अवतरित हो गई।

वे प्रस्तुत श्लोक में कह रहे हैं—प्रभो! यह विचित्र बात है कि आप संसार-समुद्र से विपराङ्मुख हो गए हैं। फिर भी निजपृष्ठलग्नान्—जो आपके पीछे लगे हुए हैं, उन्हें आप तार रहे हैं।

दो शब्द हैं—सम्मुख और पराङ्मुख। सम्मुख यानी जो सामने है। पराङ्मुख—यानी विपरीत हो गए हैं, उलटे हो गए हैं।

एक ओर आप विपराङ्मुख हैं, दूसरी ओर आप तार रहे हैं। आपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का जो मार्ग बतलाया है, उस मार्ग पर चलने वाले लोग वास्तव में पृष्ठ-लग्न हैं, आपके पीछे लगे हुए हैं। आप उन लोगों को तारते हैं। यह कैसे हो सकता है?

कवि विमर्शपूर्वक अपने मंतव्य के संदर्भ में कहते हैं—युक्तं—यह उचित हो रहा है, सही हो रहा है और ऐसा हो सकता है।

कवि दृष्टान्त के साथ इसकी यौक्तिकता सिद्ध करते हैं—पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव—मिट्टी के घट को जल में औंधा कर दो, उसे पकड़ कर आदमी

१५२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

नदी पार कर लेता है। घड़े को सीधा रखो, घड़े के द्वारा नदी को पार नहीं किया जा सकता। घड़े को सीधा रखते ही उसमें जल भर जाएगा। वह जल में डूब जाएगा। घड़े को औंधा रखो, उलटा रखो तो उसको पीछे से पकड़ने वाला आदमी घड़े के साथ तैर कर उस पार पहुंच जाता है।

इस कल्पना में एक विरोधाभास भी है—आप संसार के सम्मुख नहीं हैं, संसार से विमुख हैं। पंचपद वंदना का जो रूप राजस्थानी भाषा में रहा है, उसका एक पद है—‘संसार स्यू अपूठा अर मोक्ष स्यू स्हामां।’ आप जन्म-जलधि से विपराङ्मुख हैं फिर भी आपकी यह करुणा है कि जो भी आपके पीछे लगे हुए हैं, आप द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की आराधना करते हैं, उनको आप तार देते हैं।

घड़ा भी पीछे लगे हुए व्यक्ति को तारता है, सम्मुख को नहीं तारता। यदि घड़े को सामने कर लें तो डुबो देगा। उसमें पानी भर जाएगा। घड़ा विपराङ्मुख होकर ही तारता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। कवि कहते हैं—आप भी पार्थिव हैं और घड़ा भी पार्थिव है। जो पृथ्वी की रक्षा करने वाला है, वह पार्थिव है। जो पृथ्वी, मिट्टी से बनता है, वह भी पार्थिव है। जब घड़ा विपराङ्मुख होकर तार सकता है तो फिर आप क्यों नहीं तार सकते?

घड़े की स्थिति का विश्लेषण करते हुए सिद्धसेन कहते हैं—जो घड़ा है वह विपाक-युक्त है, विपाक-शून्य नहीं है। घड़ा तभी तार सकता है जब उसका विपाक हो जाए। कच्चा घड़ा कभी नहीं तार सकता। जिस घट को पका लिया, विपाक-युक्त कर लिया, वही जल से तारने में समर्थ हो सकता है। आश्चर्य की बात यह है कि आप कर्म-विपाक से शून्य हैं फिर भी तार रहे हैं।

कवि ने काव्य में अलंकारपूर्ण भाषा का प्रयोग कर सचाई को अभिव्यक्ति दी है।

काव्यानुशासन में एक हृदयस्पर्शी तथ्य प्राप्त होता है। प्रश्न आया—कवि और सहृदय—इन दोनों में किसका महत्त्व ज्यादा है? कहा गया—कवि का महत्त्व है पर कवि से भी ज्यादा महत्त्व सहृदय का है। जो काव्य के मर्म को समझने वाला है, मर्मज्ञ है, उस सहृदय का महत्त्व है। कवि है, पर सहृदय नहीं है, काव्य के मर्म को समझने वाला नहीं है तो उसका महत्त्व क्या होगा? कहा गया—यह भैंस के सामने मृदंग बजाने जैसा उपक्रम है। भैंस के सामने

पराङ्मुख होना भी सीखें १५३

कोई ढोल या मृदंग बजाता है तो मृदंग का क्या अर्थ होगा? काव्य के मर्म को समझने वाला नहीं है, उसकी युक्ति और वक्रोक्ति को भी समझने वाला नहीं है तो उसका क्या अर्थ होगा? वही काव्य श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें वक्रोक्ति होती है। सीधी बात कहने वाला कोई काव्य नहीं होता। काव्य वही होता है जहां वक्रोक्ति है, व्यंग्योक्ति है, व्यंजना है। काव्य में व्यंजना खोजनी होती है कि कवि क्या कहना चाहता है। जब व्यंजना होती है, नई स्फुरण होती है, तभी कोई नया काम होता है। एक आदमी काम करता है। जो काम चल रहा है, उसे करता चला जाता है। जब विचार में कोई व्यंजना आती है, वक्रोक्ति आती है तब कोई नया काम कर सकता है।

एक कुम्हार घड़ा बनाता था। उसने कुछ समय बाद 'चिलम' बनाना शुरू कर दिया। 'चिलम' बिकने लगी। अच्छी कमाई भी हुई। एक दिन चिलम बनाते-बनाते एक व्यंजना दिमाग में प्रस्फुरित हो गई—मुझे तो मूल का काम करना चाहिए। एक विचार-परिवर्तन हुआ, नया चिन्तन आया—अब मुझे चिलम नहीं बनाना है, घड़ा बनाना है। मिट्टी को चाक पर चढ़ाया, घड़ा बनाया, पकाया। एक आदमी ने उसे खरीद लिया और अपने घर के सामने पानी भर कर रख दिया। राहगीर आते हैं, उस पानी को पीते हैं, उनकी प्यास बुझती है, कलेजा ठंडा हो जाता है।

कुम्हार ने सोचा—कितना अच्छा हो गया। मैं चिलम बनाता तो दूसरों के हृदय को जलाने वाली वस्तु बनाता। मैं दूसरों के हृदय को जलाने में निमित्त बनता। अब मैं घड़े बना रहा हूँ तो दूसरों के कलेजे को ठंडा करने वाली वस्तु बना रहा हूँ। मैं दूसरों के हृदय को ठंडा करने में निमित्त बन रहा हूँ।

यह विचार-परिवर्तन, कार्य-परिवर्तन तब हुआ जब उसके मन में व्यंजना स्फुरित हुई। यदि व्यंजना स्फुरित नहीं होती तो वह चिलम बनाता रहता। व्यंजना विचार-परिवर्तन का आधार बन गई।

संस्कृत में वही काव्य अच्छा माना जाता है जिसमें वक्रोक्ति होती है, व्यंजना होती है। आचार्य सिद्धसेन ने अपने काव्य में वक्रोक्तियों का प्रयोग किया है और वे उसमें सफल भी हुए हैं। प्रस्तुत श्लोक इसका एक साक्ष्य है। कवि ने कितनी मर्म की बात कही है—आप संसार-समुद्र से पराङ्मुख हैं इसलिए तार रहे हैं। यदि आप संसार के सम्मुख होते तो तार नहीं सकते। जो संसार के सम्मुख होता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है। यह

१५४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

श्लोक हर व्यक्ति के लिए यह बोधपाठ देता है कि वह सदा संसार के सम्मुख न रहे, संसार से 'अपूठा' होना भी सीख जाए, विमुख होना भी सीख जाए।

दूसरी बात—जो घड़ा विपाक-युक्त होता है, वह तार सकता है। आप कर्म-विपाक से शून्य होकर भी तार रहे हैं। यह आश्चर्य की बात है।

स्तुतिकार स्तुति करते-करते काव्य-कलना में कौशल का प्रयोग करने लगे। शब्द-अलंकार, अर्थ-अलंकार—इन सबमें ऐसे खो गए कि उसे सहजतया समझना भी कठिन है। यदि गहराई में जाएं तो यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि स्तुतिकार ने स्तुति के बहाने अपने काव्यकौशल का परिचय ही नहीं दिया है, जीवन की सफलता के सूत्रों को भी प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत श्लोक का संदेश यह है—वही व्यक्ति अपने जीवन में सफल होता है जो पराङ्मुख होना भी जानता है। केवल सम्मुख रहने वाला सफल नहीं हो सकता। चाहे डॉक्टर है, जननेता है, साधु है—जो भी विमुख होकर काम नहीं कर सकता, वह सफल नहीं हो सकता। उन्हें पराङ्मुख होना भी सीखना चाहिए। जो व्यक्ति सदा भोग के सम्मुख रहता है, धन और पदार्थ के सम्मुख रहता है, वह कभी परमार्थ का काम नहीं कर सकता। महान् परमार्थ का काम वही कर सकता है जो धन, पदार्थ और भोग की आसक्ति से पराङ्मुख होना भी जानता है। जिस प्रकार पराङ्मुख घड़ा पार उतार सकता है उसी प्रकार जो पराङ्मुख होना जानता है वह समस्या का पार पा सकता है। यदि हम पराङ्मुखता के इस मर्म को समझ सकें तो अपने जीवन की बहुत समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

पराङ्मुख होना भी सीखें १५५

३०. विरोध में अविरोध का साक्षात्

विरोध और मैत्री—इन दो शब्दों पर विचार करें। विरोध दो प्रकार का होता है—एक विरोध वह होता है जो दूसरे के प्रति शत्रुता का भाव पैदा करता है। एक विरोध वह होता है जिसके नीचे मैत्री होती है और वह विरोध उपयोगी भी होता है। संस्कृत साहित्य में श्लोक आता है—

जलस्य वह्निना वैरं, विधात्रा परिकल्पितम्।
सुपात्रं यदि मध्यस्थं, नृणां भोगाय कल्पते॥

सब जानते हैं कि पानी व अग्नि में विरोध है। बीच में पात्र आ गया तो पानी गर्म हो गया। सर्दियों के दिनों में गर्म पानी बहुत उपयोगी होता है। सुपात्र की मध्यस्थता ने विरोध को उपयोगिता में बदल दिया। विरोधी तत्वों के बीच मैत्री का पात्र चाहिए। अगर अग्नि व जल के बीच पात्र न हो तो जल अग्नि को बुझा देगा। न जल उपयोगी रहेगा और न अग्नि की उपयोगिता सिद्ध होगी। बीच में पात्र आया, दोनों उपयोगी बन गए। न अग्नि नष्ट हुई, न पानी नष्ट हुआ। पानी की उपयोगिता बढ़ गयी और अग्नि की उपयोगिता प्रमाणित हो गई।

यह व्यवहार-क्षेत्र की बात है। कविजनों ने साहित्य के क्षेत्र में भी इसके प्रयोग किए हैं। उन्हें पढ़ते हैं तो लगता है—विरोध है वह वास्तव में सचाई है। संस्कृत काव्यों में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया जाता है। कवि सिद्धसेन ने भी इस अलंकार का प्रयोग किया है। वे पार्श्व प्रभु की स्तुति में कह रहे हैं—आप विश्वेश्वर हैं। विश्व के ईश्वर, विश्व में सर्वाधिक धनाढ्य हैं। दूसरी ओर वे कह रहे हैं—आप दुर्गत हैं, दरिद्र हैं। एक व्यक्ति विश्व का मालिक, स्वामी भी है और दरिद्र भी।

यह कथन कितना विचित्र-सा लगता है कि विश्वेश्वर होने पर भी आप दुर्गत हैं। दुर्गत शब्द की मीमांसा हम दो प्रकार से कर सकते हैं। **दुर्गतः—दुःखेन गम्यते** अर्थात् जिसे जानना हमारे लिए मुश्किल हो। प्रभो! एक ओर आप संपूर्ण विश्व के ईश्वर हैं, दूसरी ओर आप हमारे लिए अगम्य/दुर्गम्य बने हुए हैं। वृत्तिकार ने दुर्गत का दूसरा अर्थ किया है दरिद्र। आप केश की दृष्टि से

१५६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

दरिद्र हैं, आपके सिर पर केश नहीं हैं। तीर्थंकर का यह अतिशय होता है कि उनके केश बढ़ते नहीं हैं। जितने हैं उतने ही रहते हैं। कवि ने उसका उपयोग कर लिया कि एक ओर तो आप विश्वेश्वर कहलाते हो, दूसरी ओर केश रहित हैं। केशराशि अलंकार है, सौन्दर्य का प्रतीक है। वे केश भी आपके पास नहीं हैं।

आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—भगवन्! आप अक्षर हैं पर आपकी कोई लिपि नहीं है। यानी आप अक्षर प्रकृति वाले हैं, मोक्ष की प्रकृति वाले हैं। आपके कोई लेप नहीं हैं, इसलिए लेप रहित हैं। अक्षर का एक अर्थ है मोक्ष। प्राचीन जैन साहित्य और गीता में मोक्ष अथवा निर्वाण के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग मिलता है। जो शाश्वत है, जिसका क्षय नहीं होता, वह है अक्षर। मोक्ष समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने से प्राप्त होता है अतः उसका कभी क्षय नहीं होता। दूसरी तरफ वर्णमाला के शब्द भी अक्षर हैं। वर्णमाला का कभी क्षय नहीं होता, अतः वह शाश्वत है। शब्द की रचना बदलती रहती है पर अक्षर कभी नहीं बदलते। शाश्वत, स्थायी रहते हैं। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर ध्वनि है। उसे लेखन में अभिव्यक्त करने के लिए लिपि का सहारा लेना पड़ता है। 'अ' अक्षर है तो उसे किसी न किसी लिपि से ही व्यक्त करना होगा।

भगवान् की एक अन्य विलक्षणता है कि अज्ञानवान होने पर भी उनमें विश्व के विकास का हेतुभूत ज्ञान स्फुरित हो रहा है। एक ओर अज्ञानवान हैं, दूसरी ओर आपका ज्ञान पूरे विश्व को प्रकाशित करने वाला है। संस्कृत व्याकरण, शब्दकोश और काव्यानुशासन—इन सबका कवि ने बहुत सुन्दर प्रयोग किया है। विरोध लग रहा है किन्तु इस विरोध को मिटाया जा सकता है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से 'अज्ञानवति' पद 'अज्ञानवत्' शब्द का सप्तमी एकवचन का रूप है। जिसका अर्थ है—'अज्ञानवान होने पर।' अज्ञान्+अवति का संधियुक्त प्रयोग होने से इसका अर्थ होता है—आप अज्ञ लोगों के रक्षक हैं।

उदयपुर की बात है। महाराणा भीमसिंहजी का शासन चल रहा था। मेवाड़ के लोग सामने बैठे थे। उनमें बारहठ जाति का एक व्यक्ति भी उपस्थित था। कविता बनाने और बोलने का उनका ढंग अलग ही होता था। वह आया, महाराणा ने ध्यान नहीं दिया, सम्मान नहीं किया। बारहठजी कब चूकने वाले थे। बोले—**भीमा! तू तो भाटो, मोटा भाखर मांहिलो। भीमसिंह! तू तो बना बनाया पत्थर है। छोटे-मोटे पहाड़ का नहीं, बड़े पहाड़ का है।**

चारों ओर सन्नाटा छा गया। महाराज कुपित हो गए।

विरोध में अविरोध का साक्षात् १५७

सब लोगों ने कहा—बारहठजी को रोको, ये ऐसे कैसे बोल रहे हैं।

तुरंत बारहठजी बोल उठे—**कर राखूं काठो, शंकर ज्यूं सेवा करूं।।**

राजा ने तत्काल प्रसन्नमुद्रा में देखा, पुरस्कार दिया और सारी स्थिति बदल गई। विरोध अविरोध में रूपायित हो गया। अगर प्रयत्न करें तो विरोध को अविरोध में बदला जा सकता है। परिवार में अथवा समाज में, कहीं भी कोई भी विरोध शाश्वत नहीं होता, उसको बदला जा सकता है। कंकर को भी शंकर बनाया जा सकता है। शंकर की तरह सेवा की जा सकती है।

आचार्य भी ऐसा ही प्रयोग कर रहे हैं। यह स्तुति बड़ी विचित्र है। इसमें आचार्य ने अनेक प्रयोग किए हैं, अनेक सचाइयों को प्रकट किया है।

प्रस्तुत चरण में विरोध परिहार के दो रूप बन जाते हैं—भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन कर अज्ञ प्राणियों की संसार से रक्षा करते हैं क्योंकि उनमें सारे जगत् को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान स्फुरित हो रहा है। अथवा कह सकते हैं—मति, श्रुत आदि सामान्य ज्ञान भगवान् में नहीं होते। अतः उनकी अपेक्षा से भगवान् ज्ञानवान नहीं हैं। किन्तु तीन जगत् के सब द्रव्यों और सब पर्यायों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान का आलोक आपमें सतत स्फुरित है। एक संस्कृतज्ञ जानता है कि आचार्य ने ऐसे शब्द का प्रयोग क्यों किया? अज्ञान्—जो लोग अज्ञ हैं, कुछ नहीं जानते, अवति—उनकी रक्षा करते हैं। विरोधाभास अलंकार के इस श्लोक में तीन उदाहरण हैं—

१. विश्वेश्वर होने पर भी दरिद्र हैं।

२. अक्षर प्रकृति होने पर भी अलिपि हैं।

३. अज्ञानवान होने पर भी विश्व को प्रकाशित करने वाला ज्ञान—आपके भीतर प्रस्फुटित हो रहा है।

संक्षेप में प्रस्तुत श्लोक में विश्वेश्वर (सर्वाधिक धनाढ्य) और दुर्गत (गरीब), अक्षर और अलिपि तथा अज्ञानवति....ज्ञानं स्फुरति में विरोध होने के कारण विरोधाभास अलंकार है। विश्वेश्वर होने पर भी दुर्गम्य, अक्षर स्वभाव वाले होने पर भी लेपरहित तथा अज्ञानी जन के रक्षक होने पर भी ज्ञान स्फुरित होता है—यह विरोध का परिहार है।

इन तीनों विरोधाभासों के बीच में कवि-मनीषा से ऐसे पात्र की संघटना हो गई जिससे श्लोक की उपयोगिता सिद्ध हो गई और संभव बना विरोध में अविरोध का साक्षात्, एक शाश्वत सचाई का अभिनव संदर्भ में प्रकटीकरण।

१५८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

३१. लीन रहें अपनी साधना में

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य अपनी बात एक घटना के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं।

एक दिन राजकुमार पार्श्व अपने महल के झरोखे में बैठे थे। उन्होंने देखा—नगरवासियों के झुण्ड एक दिशा की ओर जा रहे हैं। पता लगा कि नगर के बाहर एक 'कमठ' नाम का तापस पंचाग्नि तप की साधना कर रहा है। लोग हाथ में फल-फूल लेकर उसी की पूजा करने जा रहे हैं।

राजकुमार पार्श्व ने अवधिज्ञान से देखा—आग की धूनी में एक लक्कड़ में नाग-नागिन का जोड़ा जल रहा है। उस अज्ञान तप का भण्डाफोड़ करने और नाग-नागिन को धर्म का सहारा देने के लिए राजकुमार पार्श्व वहां आए। तापस को स्पष्ट शब्दों में कहा—'तप की ओट में अनर्थ हो रहा है। बेचारा सर्प-युगल अग्नि में बुरी तरह झुलस रहा है।' यों कहकर अपने सेवक से उस लक्कड़ को बाहर निकलवाया। सावधानीपूर्वक उसको चीरा, झुलसा हुआ सर्प-युगल बाहर आ गया।

पार्श्वकुमार ने उस अर्धदग्ध सर्प-युगल को नमस्कार महामंत्र सुनाया। नमस्कार महामंत्र सुनते-सुनते दोनों ने प्राण त्याग दिए। धर्म-श्रवण के फलस्वरूप सांप मरकर धरणेन्द्र देव बना और नागिन पद्मावती देवी।

तापस पार्श्वकुमार के प्रति अत्यन्त रुष्ट हुआ। विवश होकर वह अन्य स्थान पर जाकर घोर तप करने लगा। घोर अज्ञानमय तप के कारण वह मरकर प्रेतयोनि में उत्पन्न हुआ। कुछ प्रेतात्माओं की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उन्हें दूसरों को सताने में आनन्द आता है।

एक बार हम लोग हरियाणा में थे। एक परिवार ओडिशा से दर्शनार्थ आया। एक भाई बोला—हम सारे परिवार के लोग दुःखी हैं। कोई प्रेतात्मा सता रही है।

मैंने पूछा—'क्या वह बोलती है?'

लीन रहें अपनी साधना में १५६

‘हां, बोलती है।’

मैंने कहा—‘हमारे सामने आए तो हम भी बात कर लें। तब एक सदस्य में प्रेतात्मा का प्रवेश हुआ।’

मैंने पूछा—‘तुम किस परिवार से संबंधित हो?’

वह बोला—‘इसी परिवार का हूं। इनका दादा ही हूं।’

मैंने कहा—‘इनके दादा हो, फिर क्यों सता रहे हो?’

‘अब इनके साथ हमारा कोई संबंध नहीं है। हमें तो सताने में ही मजा आता है, चाहे पोता हो या बेटा, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। जहां वैरानुबंध होता है वहां तो हम बहुत उग्र हो जाते हैं।’

कमठ के मन में पार्श्व के प्रति आक्रोश प्रबल हो गया। उसने सोचा—पार्श्व ने मेरी साधना में विघ्न डाला है। धूनी से लकड़ी बाहर निकालकर मेरा अपमान किया है। लोगों में मेरा तिरस्कार हुआ है। क्रोध की तीव्रता से वह वैरानुबंध संस्कारगत हो गया। शत्रु के साथ शत्रु का संबंध और मित्र के साथ मैत्री का अनुबंध चलता रहता है।

पार्श्व साधु बन गए। साधना कर रहे थे। ध्यान की मुद्रा में थे। उस समय कमठ ने धूलि की वर्षा की। समग्रता से आकाश को ढक दिया। इतनी अधिक धूल बरसायी कि आकाश आच्छन्न हो गया। सूर्य भी दृष्टि से ओझल हो गया, पर पार्श्व के पास अपनी साधना का अतिशय था। धूल ऊपर उठती गई, पार्श्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। पार्श्व का आभामंडल किंचित् मात्र भी दूषित नहीं हुआ।

कमठ सारा दृश्य देख रहा था। आखिर हार गया, थक गया। सिद्धसेन कहते हैं—कमठ की उस धूल से आपका तो क्या, आपकी छाया का भी कुछ नहीं हुआ, किन्तु उन रजों से वह बेचारा बंध गया। रज का एक अर्थ है—धूल और दूसरा अर्थ है कर्म-मल। कमठ ने रजें उछाली पर उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। आपने कुछ नहीं किया फिर भी उसने कर्म का बंधन कर लिया।

प्रभो! यह आपका अतिशय है, विशेषता है, आपकी पवित्रता है, किन्तु कमठ का नुकसान हो गया। उसने रजें आप पर उछाली, वे आप पर नहीं गिरीं, स्वयं उस पर ही जाकर गिरीं। परिणामस्वरूप कर्म का बंधन कर लिया।

१६० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

एक बोधपाठ इस प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति को लेना है कि दूसरों पर रजें न उछालें। दूसरों पर धूल न गिराएं। आजकल तो रजों की जगह जूते उछाले जाते हैं। हम दूसरों पर रजें व जूते न उछालें। इस प्रकार के व्यवहार से किसी दूसरे का तो अहित होता है या नहीं, स्वयं का अहित अवश्य होता है। इस घटना से पार्श्व का कोई अहित नहीं हुआ, किन्तु स्वयं कमठ का अहित हो गया। उसके बहुत भारी कर्मों का बंध हो गया। इसलिए हम इस घटना से सीख लें कि दूसरों पर धूल न उछालें। बस, अपनी साधना में लीन रहें। दूसरा हमारी छाया को भी प्रभावित नहीं कर सकेगा।

लीन रहें अपनी साधना में १६१

३२. किसी का अनिष्ट न सोचें

मनुष्य दो प्रेरणाओं से काम करता है—१. मैत्री की प्रेरणा, २. वैर-विरोध की प्रेरणा। जो मैत्री की प्रेरणा से काम करता है, वह अच्छा होता है। जो वैर-विरोध की प्रेरणा से काम करता है, वह काम अच्छा नहीं होता, दुःखदायी भी होता है। मनुष्य इस तथ्य को जानता है फिर भी ये दोनों प्रेरणाएं चल रही हैं। मैत्री की धारा भी चल रही है और वैर-विरोध की धारा भी। वैर कभी-कभी सकारण होता है और कभी-कभी अकारण भी।

कमठ के मन में अर्हत् पार्श्व के प्रति वैर का भाव बन गया। उस वैर-भाव के पीछे कोई कारण नहीं था। अकारण ही मन में वैर की ग्रंथि बन गई। मनोविज्ञान की भाषा में ग्रंथिपात हो गया, वैर की गांठ बन गई। एक घटना घटित होती है, समाप्त हो जाती है पर उसकी गांठ नहीं बनती। एक घटना ऐसी होती है जिसकी समाप्ति एक नई गांठ की जन्मदात्री बन जाती है। दो व्यक्तियों में परस्पर बातचीत हो रही है। किसी ने कटुशब्द कह दिया। बात समाप्त हो जाती है किन्तु उस कटुशब्द के कारण मन में एक गांठ बन जाती है। उसमें बदला लेने की, प्रतिशोध की भावना जाग जाती है। व्यक्ति सोचता है—मुझे इसका बदला लेना है। वह प्रतिशोध के अवसर तलाशता रहता है।

तापस कमठ के मन में वैर की गांठ बन गई। यह भावना जाग गई—पार्श्व के कारण मेरी अवमानना हुई। मुझे पार्श्व के इस व्यवहार का बदला लेना है। वह वैरानुबंध से प्रेरित होकर दुश्चेष्टाएं करने लगा। उसने पहला प्रयोग किया धूल की वृष्टि का। उसमें वह सफल नहीं हुआ।

जब तक वैर की ज्वाला बुझती नहीं है तब तक आदमी न जाने क्या-क्या करता रहता है। समाचार-पत्र पढ़ने वाले जानते हैं—वैर के कारण किस प्रकार हत्याएं होती हैं, कितने अनर्थ होते हैं। दुनिया का एक बड़ा भाग वैर के अनुबंध से बंधा हुआ है। यदि हम इस प्रश्न का विश्लेषण करें—दुनिया में मैत्री का प्रयोग करने वाले अधिक हैं या वैर-विरोध का प्रयोग करने वाले अधिक, तो हमारा निष्कर्ष यह होगा—दुनिया में मैत्री का प्रयोग करने वाले कम मिलेंगे,

१६२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

वैर-विरोध का प्रयोग करने वाले अधिक। आदमी हर बात को वैर-विरोध का विषय बना लेता है। किसी ने मन के प्रतिकूल बात कह दी, प्रतिकूल व्यवहार कर दिया, ऐसा कुछ कह दिया जो मन को रुचिकर नहीं लगा तो व्यक्ति के मन में विरोध का भाव उभर आएगा।

कमठ ने विरोध का दूसरा प्रयोग किया। आकाश में अकस्मात् बादलों का घटाटोप हो गया। भयंकर काली कजरारी घटाएं छा गईं। आकाश ही नहीं, धरती पर भी कालिमा छा गई। घनघोर अंधेरा हो गया। **सूचीभेद्यं तमः**—इतना गहन अंधकार हो गया कि सूई से भी भेदा न जा सके। दूसरी ओर विद्युत्पात हो रहा है, बिजली कड़क रही है, चमक रही है। जब बिजली गिरती है तब भयावह शब्द होता है। जहां गिरती है वहां बहुत हानि भी हो जाती है। दो दिन पूर्व समाचार-पत्र में पढ़ा—बीकानेर के आस-पास छह स्थानों पर बिजली गिरी। कुछ लोग मर गए, अनेक लोग घायल हो गए। विद्युत्पात बहुत भयंकर होता है। बादलों के गर्जन और विद्युत् कड़कन के साथ तेज वर्षा हो रही है और ऐसी वर्षा हो रही है—**मुसलमांसलघोरधार**—मुसल जैसी मांसल/पुष्ट पानी की धारा बरस रही है। चारों ओर मानो जल का अथाह प्रवाह हो गया है। नदी-नाले उफन गए हैं। जैसे-जैसे पानी भगवान् पार्श्व के सिंहासन के पास आया, वैसे-वैसे सिंहासन ऊपर होता चला गया। भगवान् पार्श्व ऊपर उठते चले गए। न मूसलाधार वर्षा ने उन्हें प्रभावित किया, न भयंकर विद्युत्पात ने प्रभावित किया और न घटाओं के घनघोर अंधकार ने उन्हें प्रभावित किया।

जो व्यक्ति योगसिद्ध होता है उसे ये सब स्थितियां प्रभावित नहीं करतीं। गोरखनाथजी ने योग की बड़ी कठिन साधना की। उन्होंने अपने शरीर को साधना के द्वारा वज्रमय बना लिया। साधना की सिद्धि के बाद एक दिन शिष्यों को बुलाया, कहा—एक तलवार लाओ। शिष्य तलवार लेकर आ गए। उनका दूसरा निर्देश था—इस तलवार से मेरे शरीर पर प्रहार करो। इस निर्देश को सुनकर शिष्य हतप्रभ हो गए। उनके हाथ कांपने लगे। उन्होंने सोचा—अपने गुरु पर तलवार कैसे चलाएं?

गुरु ने शिष्यों को आश्वस्त किया—डरो मत। जितनी जोर से तलवार चला सको, चलाओ। देखता हूं कि इससे मेरा क्या होता है?

आखिर आदेश को स्वीकार कर शिष्यों ने तलवार से प्रहार किया। ऐसा लगा—तलवार गोरखनाथ के शरीर को छूकर नीचे चली गई, शरीर पर उस

किसी का अनिष्ट न सोचें १६३

प्रहार का कोई असर नहीं हुआ। गुरु की इस सिद्धि को देखकर शिष्य विस्मित रह गए।

यह वज्रकाय साधना का प्रभाव था। अर्हत् पार्श्व वज्रऋषभनाराचसंहनन से संपन्न थे। उनका प्रभाव तो अतिशायी था। इसलिए इन उपद्रवों का उन पर कोई असर नहीं हुआ किन्तु प्रयोगकर्ता पर असर हो गया।

स्तुतिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में एक सुंदर शब्द-विन्यास कर दिया—**दुस्तरवारि**—कमठ ने इतना पानी बरसाया कि वह दुस्तर बन गया, जिस पर तैरना मुश्किल था, जिसका पार पाना कठिन था। वह पार्श्व के लिए दुस्तरवारि नहीं बना, कष्टदायी नहीं बना किन्तु वह कमठ के लिए ही दुस्तरवारि—कठिन तलवार बन गई। कमठ स्वयं कष्ट में फंस गया। उसके लिए वह कृत्य दुस्तर बन गया।

यह एक निश्चित और अनुभूत तथ्य है—जो व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट करना चाहता है वह दूसरे का अनिष्ट कर पाता है या नहीं, अपना अनिष्ट अवश्य कर लेता है। दूसरे के अनिष्ट का चिन्तन करना अपने अनिष्ट को आमंत्रण देना है। भगवान् महावीर का विश्रुत वचन है—**आयंकदंसी न करेइ पावं**—आतंकदर्शी पाप नहीं करता। आतंकदर्शी दूसरे को कष्ट देने में अपना आतंक देखता है। वह यह सोचता है—उसका अनिष्ट होगा या नहीं—यह कौन जानता है? यदि वह शक्तिशाली है तो नहीं भी हो सकता, किन्तु मेरा अनिष्ट अवश्यंभावी है—यदि यह बात सबके समझ में आ जाए तो शायद कोई व्यक्ति दूसरे के अनिष्ट की बात सोच नहीं सकता। वे ही लोग दूसरे का अनिष्ट करने की बात सोचते हैं जो इस सचाई को नहीं जानते—अपना अनिष्ट किए बिना दूसरे का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

दूसरे के अनिष्ट में अपना अनिष्ट है—यदि यह बात समझ में आए, तो व्यक्ति बहुत विकास कर सकता है, सुखी रह सकता है, तनावमुक्त रह सकता है। वह दूसरों के लिए कभी खतरा नहीं बनता। समस्या यह है—आज इस सचाई को भुलाया जा रहा है। अनेक व्यक्ति सपरिवार आते हैं, कहते हैं—हमारी दुकान अच्छी चल रही थी किन्तु अमुक व्यक्ति ने कुछ तांत्रिक प्रयोग करा दिया। अब दुकान बंद होने की स्थिति में है। कोई ग्राहक आता ही नहीं है। मैंने पूछा—यह किसने कराया? उसने बहुत वेदना के साथ कहा—‘मेरे परिवार के लोगों ने ही कराया है। मेरे भाई की दुकान नहीं चलती थी। मेरी दुकान बहुत चलती थी। उसने प्रयोग करा दिया कि इसकी भी क्यों चले?’

१६४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

एक व्यक्ति ने कहा—‘हमारे परिवार में परस्पर बहुत अच्छा प्रेम और सौहार्द का भाव था। अब कलह और वैमनस्य का वातावरण रहता है।’ मैंने पूछा—‘इसका कारण क्या है?’ उसने कहा—‘आचार्यश्री! किसी ने तांत्रिक प्रयोग करा दिया इसलिए यह समस्या हो गई।’

एक वर्ष में पचास-साठ ऐसी घटनाएं/व्यथाएं सुनने को मिल जाती हैं। प्रश्न होता है—क्या ऐसा करने वाला व्यक्ति सुखी बनता है? क्या दूसरे का अनिष्ट कर व्यक्ति अपना इष्ट साध सकता है?

व्यक्ति का यह चिन्तन भ्रमपूर्ण है—मैं इसका अनिष्ट कर दूंगा तो क्या होगा? मेरा क्या बिगाड़ेगा? कुछ समय के लिए उसे सुख का अनुभव भी हो सकता है किन्तु वह भ्रम जल्दी ही टूट जाता है और अनिष्ट करने वाले व्यक्ति को स्वयं बहुत अनिष्ट भोगना पड़ता है।

यह वास्तविक सचाई है, धर्म और अध्यात्म की सचाई है। इसलिए दूसरे के अनिष्ट की भावना करने से पहले व्यक्ति यह सोचे—उसका अकेले का अनिष्ट नहीं होगा, साथ-साथ मेरा भी अनिष्ट होगा। यदि इतना चिन्तन स्फुरित हो जाए तो व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट करने में सकुचाएगा।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रस्तुत श्लोक में दो शब्दों का सुन्दर श्लेष किया है—कमठ ने **दुस्तरवारि**—दुस्तर जल बरसा कर अपने लिए एक बड़ी **दुस्तरवारि**—अनिष्टकारक तलवार का निर्माण कर लिया।

दूसरों के अनिष्ट का चिन्तन करने वाला अपने अनिष्ट का जाल खुद बुन लेता है। इसीलिए कभी किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहिए। आज इस सचाई को समझने और जीने की जरूरत है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों स्वस्थ रह सकें।

३३. शांतिपूर्ण जीवन का महामंत्र

यह संक्रमण की दुनिया है। इस दुनिया में संक्रमण अच्छा भी होता है और बुरा भी। जब अच्छे परमाणुओं का संक्रमण होता है, व्यक्ति को उल्लास का अनुभव होता है। जब बुरे परमाणुओं का संक्रमण होता है तब अनेक समस्याएं भी पैदा होती हैं। एक प्रसिद्ध शब्द है संक्रामक बीमारी। विषाणुओं, जीवाणुओं का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण होता है, अनेक लोग बीमार हो जाते हैं। इसीलिए संक्रामक तत्वों से बचने की सलाह दी जाती है।

संक्रमण केवल विषाणुओं का ही नहीं होता, विचारों और भावों का भी होता है। अच्छे भावों और विचारों का संक्रमण होता है तो मैत्री, सौहार्द और सौमनस्य का वातावरण बनता है। गलत भावों और विचारों का संक्रमण होता है तो विरोध, विद्वेष और अनिष्ट वातावरण का निर्माण होता है।

दो व्यक्ति कमाने के लिए परदेश गए। साथ-साथ व्यापार किया। दोनों खूब धन कमाकर अपने गांव लौट रहे थे। एक मध्यवर्ती गांव में विश्राम किया। एक व्यक्ति ने कहा—‘भाई! मैं भोजन लेकर आ रहा हूं। तुम यहां ध्यान रखना।’ भोजन लाने वाले के मन में अचानक विकृत भाव आया, सोचा—‘यदि उस व्यक्ति को समाप्त कर दूं, तो पूरा धन मेरा हो जाए।’ यही भाव सराय में धन की देख-भाल कर रहे व्यक्ति के मन में संक्रांत हो गया। दोनों के मन में एक-दूसरे को मारने का भाव प्रबल हो गया। जब व्यक्ति लोभांध बनता है तब करणीय-अकरणीय का विवेक समाप्त हो जाता है। जैसे ही व्यक्ति गांव से भोजन लेकर आया, उसने तलवार चलाई और गला काट दिया। बड़ा खुश हुआ, सोचा—‘अब सारा धन मेरा है। अब कोई पांती लेने वाला नहीं है।’ इस चिन्तन के साथ वह भोजन करने बैठा। जैसे ही भोजन संपन्न हुआ, उसकी जीवन लीला भी संपन्न हो गई।

भोजन लाने वाले के मन में बुरा भाव आया, वह भोजन में विष मिला कर लाया था। धन दोनों के हाथ नहीं आया, दोनों मौत की गोद में समा गए।

१६६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है—मनोभावों और विचारों का ऐसा संक्रमण होता है कि एक व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट अथवा इष्ट सोचेगा तो दूसरा भी उसका अनिष्ट अथवा इष्ट सोचने लग जाएगा।

हम इस सचाई को समझें—जो भाव हमारे मन में आता है, वह सामने वाले व्यक्ति के मन में भी संक्रांत होता है। यह भी सचाई है—पवित्र और तेजस्वी आभामंडल वाला व्यक्ति अनिष्ट शक्तियों को पराभूत कर देता है। कमठ ने धूल और जल की वर्षा की किन्तु भगवान् पार्श्व पर उसका कोई असर नहीं हुआ। कमठ अपनी असफलता से क्षुब्ध और उद्वेलित हो गया। जब-जब आदमी असफल होता है, तब-तब वह अवसाद में चला जाता है, तनाव से ग्रस्त हो जाता है। अवसाद और तनाव की स्थिति उससे बड़ा अनर्थ भी करा लेती है।

कमठ ने सोचा—अब मैं क्या करूँ? यह मेरे अकेले से परास्त नहीं होगा। दैत्यों की फौज ही इसे अभिभूत कर सकेगी। यह सोचकर कमठ ने **प्रेतव्रजः**—दैत्यों के समूह को भेजा। प्रेतों ने भगवान् पार्श्व को चारों ओर से घेर लिया। बीच में भगवान् पार्श्व विराजमान हैं, उनके चारों ओर प्रेत ही प्रेत खड़े हैं।

सिद्धसेन ने प्रेतों की भयावह आकृति का चित्रण किया है—उनके बड़े-बड़े केश बिखरे हुए हैं, आकृति विकृत बनी हुई है, उनके गले में नर-मुंड की माला लटक रही है, उनके मुख से जीभ नहीं, अग्नि की ज्वालाएं निकल रही हैं। अत्यन्त बीभत्स और रौद्र रूप वाले प्रेतों के समूह ने अर्हत् पार्श्व के चारों ओर घेरा बना लिया, पर कोई भी प्रेत उनके निकट नहीं आ सका। जिनका आभामंडल शक्तिशाली होता है, भूत-प्रेत उनके पास नहीं आ सकते। भूत-प्रेत उन्हें सताते हैं, जिनका आभामंडल शक्तिशाली नहीं होता।

मैंने एक साध्वी को देखा है। यह संभावना थी कि कोई प्रेत आत्मा का उसमें प्रवेश है। वह जब तक अपने स्थान पर रहती तब तक सब कुछ करती। जैसे ही वह पूज्य गुरुदेव तुलसी के कक्ष में आती, उसकी आंखें बंद हो जाती, वह मौन हो जाती। किसी ने पूछा—गुरुदेव के पास जाते ही मौन क्यों हो जाती हो? वह प्रेत आत्मा बोली—मैं उनका तेज सहन नहीं कर सकती, उनके पास जा नहीं सकती।

एक आचार्य का आभामंडल इतना तेजस्वी होता है कि उसके पास प्रेत आत्मा नहीं जा सकता। अर्हत् पार्श्व तो तीर्थकर थे। तीर्थकर का आभामंडल तो इतना शक्तिशाली होता है कि वहां सारे प्रेत अप्रेत बन जाते हैं।

शांतिपूर्ण जीवन का महामंत्र १६७

आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! आपको दुःख देने के लिए, सताने के लिए प्रेतों को आपके पास भेजा। प्रेत का काम ही शायद दुःख देना और सताना होता है। उन्हें दुःख देने और सताने में ही मजा आता है। प्रेत आत्माएं बहुत सताती हैं, सकारण भी और अकारण भी।

आचार्यश्री तुलसी का लुधियाना (सन् १६७६) में चातुर्मास था। समीपवर्ती शहर का एक व्यक्ति मेरे पास आया, बोला—‘महाराज! बड़ी समस्या है।’

मैंने पूछा—‘बहुत दुःखी लग रहे हो। क्या बात है?’

‘महाराज! पता नहीं क्या हो गया, जो कोई भी चीज रसोई में बनती है, उस पर मल आकर गिर जाता है। हमने बहुत उपाय किए पर कुछ हो नहीं रहा है।’

सिद्धान्त की दृष्टि से देखा तो लगा—यह किसी प्रेत का कृत्य होना चाहिए। कुछ प्रेत होते हैं जो पत्थर आदि फेंकते हैं। कुछ प्रेत होते हैं जो धन आदि चुराकर ले जाते हैं। कमरे में रुपया रखा। आलमारी बंद, बाहर का दरवाजा बंद और रुपया चला गया। ऐसी घटनाएं भी सामने आती हैं।

मैंने उस भाई से कहा—‘तुम अर्हम् के वलय का प्रयोग करो।’

उस श्रद्धालु भाई ने अर्हम् के वलय का प्रयोग किया, एक शक्तिशाली रक्षाकवच का निर्माण हो गया और समस्या समाप्त हो गई।

जिनके पास मंत्र-शक्ति होती है, आध्यात्मिक शक्तियां होती हैं, आभामंडल तेजस्वी होता है, उनके पास प्रेत भी निष्फल हो जाते हैं। पार्श्व तो महान् अतिशय संपन्न तीर्थकर थे। उनका आभामंडल इतना अनुपमेय और शक्तिशाली था कि उनके आसपास भी कोई अनिष्ट नहीं हो सकता था। इसीलिए प्रेत भी कुछ अनिष्ट नहीं कर सके, असफल हो गए।

सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! कमठ ने आपको दुःख देने का बहुत प्रयत्न किया। वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुआ किन्तु उसने संसार में दुःख पाने का एक अनुबंध कर लिया। वह **प्रतिभवं**—जन्म-जन्मान्तर में दुःखी बना रहेगा।

प्रस्तुत स्तोत्र के इन श्लोकों (३१-३३) में सही घटनाओं की प्रस्तुति हुई है। आचार्य ने स्तुति के माध्यम से पार्श्व के साथ घटित घटनाओं को प्रस्तुत

१६८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

कर उनका माहात्म्य उजागर किया है। इसके साथ एक संदेश और बोधपाठ भी दिया है—हम किसी का अनिष्ट न करें, किसी का अनिष्ट न सोचें। इष्ट हो सके तो करें। न हो सके तो मौन रहें। किसी के साथ वैर-विरोध न करें, बदला लेने की बात न सोचें।

यदि अध्यात्म की यह सचाई समझ में आ जाए तो हमारी सारी दुनिया सुखी रह सकती है। लोग अकारण वैर-विरोध में फंस कर, एक-दूसरे का अनिष्ट करने की बात सोच कर परिवार और समाज में एक विकृति पैदा करते हैं। ईर्ष्या के कारण, द्वेष के कारण, आवेश के कारण मनुष्य ऐसा आचरण और व्यवहार करता है, जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। वह वैरानुबंध दुःख का स्रोत बन जाता है। इसीलिए स्तुतिकार ने इन श्लोकों में जो संबोध दिया है उसे समझें, उसका मूल्यांकन करें और उसे जीवन-व्यवहार में लाएं। हम अपना इष्ट करें, अपना हित सोचें, दूसरे के हित और इष्ट की बात भी सोचें पर किसी का अनिष्ट करने की बात कभी न सोचें। यह सुखी और शांतिपूर्ण जीवन का महामंत्र है।

३४. महत्त्व है आंतरिक भक्ति का

मनुष्य के पास दो शक्तियां हैं—१. जानने की शक्ति और, २. देखने की शक्ति। जब आदमी जानता है, तब अज्ञान दूर हो जाता है और जब देखता है तब अपना बोध हो जाता है। स्व का बोध होने से स्वयं देख लेता है। कवि ने बहुत सुन्दर लिखा है—आंख सबको देखती है पर जब उसे स्वयं को देखना होता है तब वह स्वयं को नहीं देख सकती। शीशे के सामने जाकर ही अपने को देखती है। स्वयं को देखने के लिए दूसरों को देखना बहुत जरूरी है। हम किसी महान् आत्मा को, पवित्र आत्मा को देखते हैं तब हमें अपना बोध होता है, अपना दर्शन होता है। जैसे दर्पण में देखे बिना आंख अपने आपको नहीं देख सकती, वैसे ही किसी महान् आत्मा को देखे बिना अपना स्वयं का रूप सामने नहीं आता। अगर सिंह का बच्चा भेड़िए के साथ रहता है तो वह भी भेड़िया बन जाता है।

शेरनी शिशु को जन्म देकर कहीं चली गई। चरवाहे ने शेरनी के बच्चे को भेड़-बकरियों के साथ पाला। वह भी उनकी तरह व्यवहार करने लग गया। एक दिन जंगल में भेड़-बकरियां चर रही थीं। उधर से एक शेर आया। उसने देखा कि इस झुण्ड में तो एक शेर का बच्चा है। उसने जोर से दहाड़ लगाई। शेर के बच्चे ने जैसे ही दहाड़ सुनी, वह भी दहाड़ने लग गया। शेर ने कहा—‘अरे! तू यहां कहां फंस गया? तू बकरी नहीं है, भेड़ नहीं है, शेर है। आओ, मेरे साथ आ जाओ।’ जब शेर को देखा तो शेर के बच्चे का सिंहत्व जाग गया।

हर व्यक्ति में सिंहत्व होता है, पराक्रम होता है। यह नहीं कि राम और कृष्ण में ही पराक्रम था, महावीर और बुद्ध में ही पराक्रम था, अन्य महापुरुषों में भी पराक्रम था। अगर हम अपनी आत्मा के दर्पण में अपने आपको देखना शुरू करें तो हमारी शक्तियां भी जाग्रत् हो सकती हैं।

देखने का बड़ा महत्त्व है, इसीलिए आचार्य ने कहा—भगवन्! वे लोग धन्य हैं जो त्रिसंध्य—तीनों संध्याओं में सब कार्यों को छोड़कर आपकी

१७० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आराधना करते हैं। भारतीय साधना पद्धति में, चाहे वह वैदिक परम्परा हो या जैन परम्परा, बौद्ध परम्परा हो या हठयोग की परम्परा, तीन संध्याओं का बहुत महत्त्व रहा है। तीन संध्याओं की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से भी की जा सकती है। प्रातःकाल, मध्याह्न और संध्या का समय हमारे शरीर में विशेष रसायनों के स्राव का समय होता है। हमारे शरीर में अनेक रसायन हैं। हम जानते ही नहीं हैं कि शरीर में इतने रसायन हैं। हमारा शरीर रसायन पैदा करता है। हम यह जानते हैं कि हम इन्हें बाहर से लेते हैं पर हम यह नहीं जानते कि भीतर से ये स्वतः उत्पन्न होते हैं। एक आदमी के दर्द है, उस समय उसे अफीम, इंजेक्शन आदि लेने से दर्द कम लगता है। इंजेक्शन या गोली से बनने वाला रसायन हम अपने शरीर में पैदा कर सकते हैं। विज्ञान की भाषा में उसे इंडोरफिन रसायन कहा जाता है। उस समय अगर लीनता आ जाए तो उस रसायन का स्राव होने लगता है। कोई व्यक्ति ब्राह्ममुहूर्त में चार बजे उठ जाए और उठकर एक घंटा ध्यान में बैठ जाए—उस रसायन को पैदा करे तो वह दिन भर मस्ती में रहेगा। न गुस्सा, न उदासी, न बेचैनी। कुछ नहीं, पूरा दिन आनन्द में बीतेगा।

तीन संध्याओं का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। उस समय हमारे शरीर में विशेष प्रक्रियाएं होती हैं। प्राचीन आचार्य बहुत आत्मज्ञानी थे। उन्होंने बिना यंत्रों के अपनी साधना द्वारा ऐसे सूक्ष्म रहस्यों को देखा, जिसे आज वैज्ञानिक लोग यंत्रों से देख रहे हैं, बता रहे हैं। हमें लगता है कि हम जानते तो हैं पर उसका अनुभव नहीं करते।

प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल—ये तीन संध्याएं हैं। इन तीन संधि-कालों में जो आपकी आराधना करता है, उसका महत्त्व अलग ही होता है। समय हमें बहुत प्रभावित करता है। काल का बड़ा प्रभाव होता है। आगमों में विवेक दिया गया है कि किस काल में कौन-सा काम करना चाहिए। आज एक नया विज्ञान सामने आया है बायोलॉजिकल वॉच (जैविक घड़ी) का। जैविक घड़ी किस समय क्या काम करती है? स्वरोदय का ज्ञान प्राचीन ज्ञान था। आपको किसी बड़े आदमी से बात करनी है और बारह बजे दोपहर में जाएंगे तो बात बिगड़ जाएगी। उस समय उसका मूड खराब रहेगा। आपकी अच्छी बात भी उसको अच्छी नहीं लगेगी। वही बात प्रातःकाल या रात्रि के प्रथम प्रहर में शांति के समय कही जाए तो बिगड़ती बात भी सुधर जाएगी। काल का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। महावीर वाणी के ये चार शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—कोई भी काम—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर करो तो काम अच्छा होगा।

महत्त्व है आंतरिक भक्ति का १७१

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इनका विचार किए बिना काम होता है तो कार्य अच्छा नहीं होता। आचार्य ने कहा—अन्य कामों को छोड़कर आपकी तीन सन्ध्या में भक्ति के साथ आराधना करना एक समर्पण है। पवित्र आत्मा के प्रति भक्ति करते हैं तो पवित्रता के गुण या परमाणु भीतर संक्रांत हो जाते हैं।

योग का एक सिद्धान्त है गुण संक्रमण। गुणों का संक्रमण होता है। जिसको देखोगे, वैसा हो जाओगे। एक अमेरिकन महिला ने प्रसव किया। बच्चा पैदा हुआ, उसका रंग काला था। आश्चर्य का विषय बन गया कि इस गौरवर्ण महिला के काला बच्चा पैदा कैसे हुआ? बच्चा हब्सी या नीग्रो जैसा था। खोज के बाद पता चला—वह महिला जहां सोती थी, वहां एक नीग्रो का फोटो था। वह बार-बार गर्भावस्था में उसको देखती थी। परिणामस्वरूप उस बच्चे का रंग भी काला हो गया।

गुण-संक्रमण का सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म है। अगर हम पवित्र आत्मा को देखते रहें तो धीरे-धीरे हमारे भीतर भी पवित्रता का प्रवेश होगा और अपवित्रता समाप्त होगी। भक्ति के साथ, समर्पण के साथ यह प्रयोग करें। बिना समर्पण के रूपान्तरण संभव नहीं होता। सिद्धसेन कहते हैं—वे लोग धन्य हैं जो आपके दोनों चरणों की आराधना करते हैं। भक्ति के कारण उस समय उनके शरीर में पुलकन होती है, रोमांच होता है। शरीर का प्रत्येक भाग प्रफुलित हो जाता है, आनन्दित हो जाता है।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि भक्ति कैसे करें? और कब करें? भक्ति एक बहुत बड़ा तत्त्व है। भक्ति का एक गूढ़ अर्थ भी है। आद्यशंकराचार्य ने भक्ति का जो अर्थ किया है, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है—**स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।**

भक्ति का तात्पर्य है—अपने स्वरूप का अनुसंधान करना। नारद-भक्ति में भी इसका बहुत सुन्दर वर्णन है। एक व्यक्ति ने पूजा की, फूल चढ़ाए, हार चढ़ाया—ये सब बाहरी उपचार हैं। वास्तव में भक्ति के मर्म को समझने का प्रयत्न करें। एक महापुरुष के सामने खड़े होकर अनुसंधान करें और विश्लेषण करें कि ये महापुरुष कैसे बने? इन्होंने क्या आचरण किया? किस प्रभाव से ये ऐसे बने हैं? क्या मेरे भीतर वह शक्ति है? इस अनुसंधान में लग जाएं, इसका नाम है भक्ति। जब यह भक्ति होती है तब व्यक्ति सचमुच वैसा बन जाता है।

१७२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

गुरु का ध्यान करो, तुम्हारे भीतर गुरु की शक्ति आ जाएगी। जिसमें जो शक्ति है, उस शक्ति में तुम एकाग्र हो जाओ और उसी को देखते रहो तो तुम्हारे भीतर भी वही परिणमन शुरू हो जाएगा, तुम भी वैसे ही बन जाओगे। रूपान्तरण का, अपने अस्तित्व को पहचानने का, अपनी शक्तियों को जगाने का एक बड़ा माध्यम है भक्ति। इष्ट को देखकर उसी का ध्यान करें, उसके साथ तन्मय हो जाएं, यह वास्तविक भक्ति है। इस भक्ति में जो तन्मयता आती है, तल्लीनता आती है, धीरे-धीरे तादात्म्य स्थापित होता है और एक साधारण व्यक्ति भी असाधारण बन जाता है।

बहुत लोग ऐसे हैं जो अपने यथार्थ स्वरूप को देखना पसंद नहीं करते। किन्तु जो पहुंचे हुए लोग हैं वे यथार्थ को देखना पसन्द करते हैं। एक कुशल चित्रकार ने शासक का चित्र बनाया। बहुत सुन्दर चित्र था। चित्र को शासक के सामने रखा। राजा ने देखा, प्रसन्न हो गया, बोला—बहुत बढ़िया चित्र बनाया है। किन्तु चित्रकार के निवेदन के बाद भी उसे स्वीकार नहीं किया और न ही पुरस्कार दिया।

चित्रकार बोला—‘राजन्! एक ओर आप चित्र को देखकर प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं, दूसरी ओर आप न तो स्वीकार कर रहे हैं और न ही पुरस्कार की बात सोच रहे हैं।’

राजा के मुंह पर बड़ा मस्सा था, उसने सौन्दर्य दिखाने के लिए मस्से को हटाकर चित्र बना दिया। राजा ने कहा—‘चित्र सुन्दर है किन्तु इसमें सचाई नहीं है। मैं असत्य को स्वीकार नहीं कर सकता। यथार्थ को स्वीकार करूंगा।’

जिस व्यक्ति में यथार्थ को स्वीकार करने की शक्ति जागती है, वह वैसे ही बन जाता है। जो कमियों को छुपाना चाहते हैं और विशेषताओं का प्रदर्शन करना चाहते हैं उनकी विशेषताओं का अधिक विकास नहीं होता। उससे विशेषताएं भी धूमिल बन जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी कमियों को छिपाता नहीं है, सामने रखता है, उसमें परिवर्तन आता है। किसी से पूछा जाता है कि तुमने ऐसा व्यवहार किया या नहीं? उसका उत्तर होता है—मैं तो ऐसा व्यवहार बिलकुल नहीं करता। अमुक वैसे व्यवहार कर रहा है इसीलिए मुझे ऐसा करना पड़ा। किसी व्यक्ति से बात करके देखें कि तुमने यह काम अच्छा नहीं किया, भूल की, गलती की, आवेश किया। वह कहेगा—नहीं, पहले मैंने कुछ नहीं किया। उसने किया, तब मैंने किया।

महत्त्व है आंतरिक भक्ति का १७३

मनुष्य अपनी कमी को सहजता से स्वीकार करना नहीं चाहता। वह अपने आपको सर्वांगसुन्दर और परिपूर्ण दिखाना चाहता है, किन्तु वह परिपूर्ण बनना नहीं चाहता। इससे कमियां दूर नहीं होती। जिन्हें अपनी कमियों को दूर कर विशेषताओं का विकास करना है उन्हें पहले अपनी कमियों को देखने की बात सामने रखनी होगी।

ध्यान पद्धति में इसी का नाम है—आत्म दर्शन। अपने आपको देखो। जब प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करवाया जाता है तब सुझाव देते हैं कि आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। प्रश्न होता है कि क्या दो आत्मा हैं?

आचारांग सूत्र में बहुत सुन्दर निरूपण मिलता है—जब तक अहंकार को नहीं देखा जाता तब तक क्रोध नहीं मिट सकता। क्रोध आने का सबसे बड़ा कारण है अहंकार। व्यक्ति में जितना ज्यादा क्रोध होगा, उसमें उससे अधिक अहंकार होगा। मेरा बेटा और वह मेरी बात नहीं मानता—बस क्रोध आ गया। यह क्रोध क्यों आया? क्योंकि भीतर अहंकार है। क्रोध के पीछे अहंकार बोलता है।

सेठ ने प्रबंधक को बुलाया और कहा—देखो, अपनी स्कूल के उस अध्यापक को अवकाश दे दो।

प्रबंधक—साहब! वह तो अच्छा पढ़ाता है, उसको क्यों छोड़ते हैं?

सेठ—अच्छा पढ़ाता है या नहीं, इससे मुझे कोई मतलब नहीं है। मैं कक्षा में गया और वह खड़ा नहीं हुआ। इतना भी शिष्टाचार नहीं जानता इसलिए उसकी छुट्टी कर दो।

गुस्सा क्यों आया? छुट्टी क्यों की? भीतर अहंकार था। अनेक बार यह स्वर सुनते हैं कि इस व्यक्ति में इगो बहुत है। आज की सबसे बड़ी प्रॉब्लम है—इगो प्रॉब्लम। क्रोध के संदर्भ में महावीर वाणी का एक लम्बा प्रकरण आयारो में है—

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी।
जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी।
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी।
जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी।
जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से निरयदंसी।
जे निरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुःखदंसी॥

१७४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है। जो मानदर्शी है, वह मायादर्शी है। जो मायादर्शी है, वह लोभदर्शी है। जो लोभदर्शी है, वह प्रेयदर्शी है। जो प्रेयदर्शी है, वह द्वेषदर्शी है। जो द्वेषदर्शी है, वह मोहदर्शी है। जो मोहदर्शी है, वह गर्भदर्शी है। जो गर्भदर्शी है, वह जन्मदर्शी है। जो जन्मदर्शी है, वह मृत्युदर्शी है। जो मृत्युदर्शी है, वह नरकदर्शी है। जो नरकदर्शी है, वह तिर्यचदर्शी है। जो तिर्यचदर्शी है, वह दुःखदर्शी है।

दुःख को कौन देखता है? अगर यह समझना है कि दुःख क्यों होता है तो दुःख को देखो और दुःख को देखने के लिए अनुप्रेक्षा करो। ध्यान में बैठकर गहराई में जाओ और देखो—दुःख के पीछे क्या-क्या है। आप मूल तक पहुंच जाओगे, किन्तु बीच में एक शृंखला है, उसकी प्रेक्षा करना बहुत आवश्यक है।

आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा—प्रभो! वे लोग धन्य हैं जो तीनों संध्याओं में भक्ति के साथ आपकी आराधना करते हैं और जो भक्ति के साथ आराधना करने वाला है वह वैसा ही बन जाता है। किसी को महावीर बनना है तो महावीर बन सकता है। किसी को राम बनना है तो राम बन सकता है। पर उसके लिए जरूरी है आंतरिक वास्तविक भक्ति। केवल बाह्य उपचार से आप महावीर और राम नहीं बन सकते। अगर राम और महावीर बनना है तो पहले उनके साथ तादात्म्य स्थापित करो, एकात्मकता स्थापित करो। उनके गुणों के साथ, उनकी विशेषताओं के साथ एकरस बन जाओ तो वह गुण या विशेषता भी तुम्हारे साथ भीतर आने लगेगी।

आदमी सीधा काम करना चाहता है। दो मिनट में भगवान् को राजी करना चाहता है। दो मिनट मूर्ति के सामने खड़ा रहा, हाथ जोड़ा, फूल चढ़ाया और बात समाप्त। फिर दिन भर कुछ भी करने की जरूरत नहीं। यथार्थ यह है कि जब तक तन्मयता नहीं आती, तब तक काम नहीं होता। सोते-जागते, खाते-पीते कुछ भी करें, पर तन्मयता बनी रहे, विस्मृति न हो। दस बार राम का नाम लिया, दस बार कृष्ण का नाम लिया, दस बार पार्श्वनाथ का नाम लिया और नाम लेकर घर के बाहर गया, बाहर जाते ही ऐसी लड़ाई शुरू कर दी कि नाम लेने की कोई सार्थकता ही नहीं रही। नाम लेने का अर्थ तो तब होता है जब हम उनकी विशेषताओं को बराबर ध्यान में रखें।

राम को वनवास मिला तब भी क्रोध नहीं आया। अपनी माता के प्रति रोष नहीं किया। उस समय इसी बात को स्वीकार किया—पिताजी का जो

महत्त्व है आंतरिक भक्ति का १७५

आदेश है वही मेरे लिए श्रेयस्कर है। इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है। आज कोई पिता अपने पुत्र को थोड़ा कम धन दे तो शायद सीधा न्यायालय चला जाता है। इसका कारण यही है कि हमने भक्ति व आराधना के मर्म को समझने का प्रयत्न नहीं किया। केवल बाहर-बाहर से उपचार और क्रिया चलती है। इसीलिए आचार्य ने कहा—वे लोग धन्य हैं जो त्रिसंध्या में आपकी विधिवत् आराधना करते हैं।

आचार्य ने इसके साथ एक बात और प्रस्तुत कर दी कि जो अन्य कार्यों, विकल्पों को छोड़, निर्विकल्प होकर आपकी आराधना करते हैं वे व्यक्ति धन्य हैं। आज की समस्या यह है—एक ओर व्यक्ति भक्ति करता है, सामायिक करता है, ध्यान करता है, दूसरी ओर अनेक विकल्प आते हैं। इस स्थिति में भक्ति बहुत सार्थक नहीं होती। निर्विकल्प भक्ति ही सार्थक होती है। हम तन्मयता से जिसकी आराधना करते हैं वैसी शक्तियां हमारे भीतर भी जाग्रत् हो सकती हैं। इस आत्मविश्वास के साथ भक्ति करें तो आचार्य के कथन की सार्थकता का अनुभव होगा।

३५. सूत्र विपदा से मुक्ति का

आचार्य सिद्धसेन अपने मन के द्वन्द्वों को स्तुति के माध्यम से बाहरी जगत् में अभिव्यक्ति दे रहे हैं। हर व्यक्ति के मन में अंतर्द्वंद्व होता है। वह अंतर्द्वंद्व प्रकट हो जाता है तो व्यक्ति हलका हो जाता है। भीतर रहता है तो समस्या पैदा करता है।

आचार्य ने कहा—प्रभो! यह संसार-समुद्र है। संसार का मतलब है—जन्म-मरण का चक्र। हम संसार को समुद्र की कल्पना से देखें। यह संसार अपार है, इसका कोई पार नहीं है। अनादि है, अनंत है। इसका अंत तभी होगा जब व्यक्ति मोक्ष जाएगा।

प्रभो! ऐसा लगता है कि मैंने आपका गोत्र भी नहीं सुना, नाम भी नहीं सुना। आप मेरे कानों के विषय नहीं बने। इसीलिए जीवन में विपदाएं और संकट आए हैं।

आचार्य कहते हैं—अगर मैं आपका नाम पहले सुन लेता, आपके बारे में कुछ जान लेता, आपके निकट आ जाता तो मेरे जीवन में कोई विपदा नहीं आती। अगर आपके गोत्र का पवित्र मंत्र पहले सुना हुआ होता तो यह विपदा रूपी सर्पिणी निकट ही नहीं आती। भगवान् महावीर नागवंशीय क्षत्रिय हैं। भगवान् पार्श्व का गोत्र भी नागवंश है। नागवंशीय होने के कारण उनका नागजाति से संपर्क रहा है। बाद में धरणेन्द्र-पद्मावती का निमित्त भी मिल गया। पार्श्व की प्रतिमा में फण-सहित नाग भी उनके ऊपर दिखाई देता है।

गोत्र का अर्थ है—नाम। आपके गोत्र का पवित्र मंत्र नागदमनी मंत्र है। नागदमनी जड़ी भी होती है, जिसका आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र में उल्लेख किया है—‘त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः। तुम्हारे नाम की नागदमनी जिसके हृदय में है, वह निर्भय होकर विषधर सर्प को भी लांघ जाता है। नागदमनी जड़ी को हमने देखा है। ऐसा लगता है जैसे कोई सांप का बच्चा है।

सूत्र विपदा से मुक्ति का १७७

आचार्य कहते हैं—प्रभो! मैं आपके नाम को नहीं सुन सका क्योंकि इतना बड़ा संसार है, इस संसार में भ्रमण करते-करते आपके निकट आने का मौका भी नहीं मिला।

प्रस्तुत श्लोक में श्रवण का महत्त्व बतलाया गया है। श्रवण दो प्रकार का होता है—अपूर्ण श्रवण और सर्वांग-पूर्ण श्रवण। सुनना और जानना एक असाधारण बात है। कान का काम सुनना है। एक छोटा बच्चा भी सुनना जानता है। आज का विज्ञान कहता है—दांतों से बहुत अच्छा सुना जा सकता है। अब ऐसे उपकरण का विकास कर लिया गया है जिससे बहरे आदमी सुन सकेंगे। दांत पर छोटा-सा उपकरण लगा देने से आदमी सुनने लग जाएगा। कहा जा रहा है—दुनिया में कोई बहरा नहीं रहेगा। सुनने का साधन है—कान। इसे सब जानते हैं। प्रश्न यह नहीं है—किससे सुनें। प्रश्न है—कैसे सुनें?

सुनना एक कला है, विज्ञान है। उसके साथ पूरा दर्शन जुड़ा हुआ है। व्यक्ति कान से सुनता है पर उसे बोध नहीं होता। कान से सुना—गिलास में दूध पड़ा है, पर दूध क्या है? गिलास क्या है? कहां पड़ा है? कान कुछ भी नहीं जानता। एक व्यक्ति हिन्दी भाषा को नहीं जानता, अंग्रेजी, जर्मन या रशियन भाषा को जानता है। उसे कहा जाए—गिलास में दूध पड़ा है। वह इस शब्द को सुन लेगा, किन्तु उसे पता कुछ भी नहीं चलेगा। वह भूखा है, प्यासा है, गिलास में दूध पड़ा है पर उसके लिए कुछ भी नहीं है। नितांत हिन्दीभाषी व्यक्ति से अंग्रेजी में कुछ कहा जाए तो वह उसे सुन लेगा किन्तु वह उसके लिए कुछ भी काम का नहीं होगा। कान का काम केवल शब्द को सुन लेना है। किन्तु कोरे सुनने मात्र से काम नहीं होता। अगर कोरे सुनने को ही महत्त्व दिया जाए तो सारी दुनिया एकाकार हो जाए। व्यक्ति को केवल सुनने मात्र से कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। सुनने का एक क्रम निर्दिष्ट है—

श्रवणमिन्द्रियेण स्याद्, मनसार्थोऽवगम्यते।

बुद्ध्या विविच्यते तावत्, सर्वांगं श्रवणं भवेत्॥

इन्द्रियों से श्रवण, मन से अर्थ का बोध और बुद्धि के द्वारा उसका विवेचन सर्वांग श्रवण कहलाता है।

कान से केवल सुना जाता है। अर्थ का ज्ञान होता है मन के द्वारा। सुनने के साथ मन जुड़ा और शब्द के अर्थ का पता लग गया। बुद्धि के द्वारा विवेक होता है। अमुक चीज मेरे लिए उपयोगी है या नहीं, लाभदायी है या नहीं,

१७८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

उपादेय है या नहीं—यह सारा विवेक बुद्धि के द्वारा होता है। यह मन का काम नहीं है। शब्द सुनना कान का काम है, शब्द के अर्थ को जानना मन का काम है और हेय तथा उपादेय का विवेक करना बुद्धि का काम है। जब ये तीनों एक साथ होते हैं तब सर्वांग श्रवण होता है।

भगवती सूत्र में पर्युपासना के दस फल बतलाए हैं—

**सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्ख्राणे य संजमे।
अण्णहए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥**

उनमें पहला है—सवणे—सुनना, दूसरा है—नाणे—ज्ञान करना, उसके साथ मन का योग करना, मन को जोड़ देना। जो सुना उसके अर्थ को समझ लेना। तीसरा है विण्णाणे—बुद्धि से विवेक करना। विज्ञान का अर्थ है विवेक। इन्द्रिय से काम लेना, मन से काम लेना और साथ-साथ बुद्धि से काम लेना। इन तीनों के योग का अर्थ है श्रवण। कान में शब्द पड़ा और मन कहीं भटक रहा है तो सुना-अनसुना बन जाएगा, वह कला नहीं बन पाएगा। शब्द को सुन लिया, अर्थ भी समझ लिया किन्तु बुद्धि से काम नहीं लिया तो भी कोई लाभ नहीं होगा, सुनने का कोई फल नहीं मिलेगा। जब श्रवण, ज्ञान और विज्ञान होता है तब प्रत्याख्यान की बात आती है, हेय को छोड़ने की बात आती है। व्यक्ति का विवेक ही उसे त्याग के लिए प्रेरित करता है। वह सोचता है—मिठाई खाने से पेट खराब होगा। मेरी आंते कमजोर हैं। गरिष्ठ भोजन मेरे काम का नहीं है। वह अनेक पदार्थों को छोड़ने के लिए उद्यत होगा। यह प्रत्याख्यान विज्ञान या विवेक से संभव होगा। जब बुद्धि के द्वारा हेय और उपादेय का विवेक होगा तब त्याग की बात संभव बनेगी। प्रत्याख्यान से संयम और संयम से तप की यात्रा होती है, तब सर्वांग श्रवण होता है।

उपनिषद् में तीन शब्द मिलते हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। सुनना, मन के द्वारा उस पर मनन करना और उसका निदिध्यासन करना, विवेक करना, अनुशीलन करना। आज एक बहुत बड़ा प्रश्न है—बहुत लोग सुनते हैं पर पूरा ज्ञान नहीं होता। इतने लोग धर्म सुनते हैं फिर भी उसका आचरण नहीं होता। इसका कारण है—कैसे सुनना चाहिए, इस तथ्य का बोध कम हो गया। आज सुनने का अर्थ कान का उपयोग करना मात्र रह गया है। ज्यादा से ज्यादा सुनना और मन का थोड़ा उपयोग करना, यह श्रवण की निष्फलता है।

ऐलोपैथिक दवा का कोर्स जब तक पूरा नहीं लिया जाता, तब तक बीमारी नहीं मिटती। मलेरिया बुखार में रिसोचिन की १० गोलियों का कोर्स

सूत्र विपदा से मुक्ति का १७६

लिया जाता है। पांच गोलियां लीं, बुखार मिट गया। दवा लेना बन्द कर दिया। उसका परिणाम होगा—बुखार वापस आ जाएगी। क्योंकि कोर्स पूरा नहीं हुआ। पूरे कोर्स के बिना बुखार जड़ से खत्म नहीं होती। दवा अर्थहीन बन जाती है। अधूरा कोर्स सर्वथा अप्रभावी रह जाता है।

कोरा सुनना एक प्रकार से अधूरा कोर्स है। जब तक श्रवण का पूरा कोर्स नहीं होता तब तक उसका मन पर कोई प्रभाव नहीं होता। सुनने का पूरा कोर्स है—श्रवण, श्रवण के बाद मनन, मनन के बाद बुद्धि के द्वारा विवेचन। विवेचन के बाद प्रत्याख्यान, संयम और तप—यह सुनने का पूरा कोर्स है।

प्रश्न हो सकता है—सुनने की प्रक्रिया क्या है? आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में सुनने की पूरी प्रक्रिया बतलाई है—

**शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥**

बुद्धि के आठ गुण हैं—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थ-विज्ञान और तत्त्वज्ञान।

पहली बात है—शुश्रूषा, सुनने की इच्छा। जब तक सुनने की इच्छा नहीं होगी, व्यक्ति सुनता हुआ भी नहीं सुन पाएगा। सुनने से पहले शुश्रूषा का होना आवश्यक है।

दूसरी बात है—श्रवण, सुनना।

तीसरी बात है—ग्रहण, सुनी हुई बात को ग्रहण करना।

चौथी बात है—धारणा, 'अविस्मरणं धारणम्' धारण का अर्थ है अविस्मरण। गृहीत बात को याद रखना। जो सुनने के साथ-साथ विस्मृति में चला जाए, वह सुनना सुनना नहीं होता।

पांचवीं बात है—ऊह, तर्क। 'युक्तिगम्यं तर्क'—तर्क युक्तिगम्य होता है। जिस बात को ग्रहण किया, धारण किया, क्या वह ठीक है? क्या सर्वांग श्रवण की बात सही है? क्या बुद्धि के द्वारा विवेक होता है? क्या बुद्धि के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं होता? इस प्रकार प्रत्येक बात को तर्क के द्वारा समझने का प्रयत्न ऊह है।

छठा तत्त्व है—अपोह। गृहीत बात में जो असत् पक्ष है, उसका निराकरण करना अपोह है। अमुक बात उचित नहीं है, इस प्रकार का बोध होना अपोह है।

१८० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

सातवीं बात है—अर्थ विज्ञान। सुनने का पहला बिन्दु है शुश्रूषा और सातवां बिन्दु है—अर्थ विज्ञान। शुश्रूषा से अपोह तक की यात्रा के बाद प्राप्त होता है अर्थ विज्ञान।

आठवीं बात है तत्त्वज्ञान। जो जैसा है, उसे वैसा जान लिया गया, यथावस्थित अर्थ का बोध हो गया। उसके बाद उसमें से परमार्थ को खोजना, तात्पर्य को खोजना तत्त्वज्ञान है। यह क्यों कहा गया? उसका कारण क्या है? उसका हृदय क्या है? इन बातों को खोजना तत्त्वज्ञान है।

यह सर्वांग श्रवण का क्रम है। सर्वांग श्रवण की प्रक्रिया इन आठ सूत्रों में समाहित है। जब शुश्रूषा तत्त्वज्ञान के बिन्दु पर पहुंचती है तब व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रस्तुत श्लोक में इस सचाई को उजागर किया है—यदि पवित्र नाम का मंत्र सुन लेता, उसका अर्थ विज्ञान कर लेता और उस मंत्र का हृदय समझ लेता तो विपदा और संकट का कभी साक्षात्कार नहीं होता। विपदा से मुक्ति का सूत्र है पवित्र मंत्र का श्रवण और हृदय में प्रतिष्ठा। पवित्र मंत्र के हृदयाधिष्ठित होते ही समस्याएं विलीन हो जाती हैं।

३६. मर्म को पकड़ना सीखें

प्रभो! जन्मान्तरों में भी मैंने आपके चरणों की उपासना नहीं की, पूजा नहीं की। अगर मैं किसी जन्म में आपके चरणों की उपासना कर लेता तो शायद इच्छित फल प्राप्त हो जाता।

प्रश्न है वे चरण कैसे हैं? जो अभीष्ट फल प्रदान करने में समर्थ हैं, निपुण हैं। जो चाहो, वह दान इन चरणों की उपासना से मिल जाता है।

चरणों का बड़ा महत्त्व होता है। ज्ञान की दृष्टि से हमारे शरीर में मस्तिष्क का बड़ा महत्त्व है। कोई भी आएगा, वह चरणों में वंदना करेगा, सिर टिकाएगा, यह संस्कार है। इस संस्कार की सार्थकता भी है, क्योंकि चरणों से ऊर्जा निकलती है। जिसने साधना के द्वारा चरणों को पवित्र कर लिया है, उनकी ऊर्जा सिर पर टिकती है तो शिष्य का कल्याण होने के साथ-साथ बहुत सारी समस्याओं का समाधान भी हो जाता है।

आचार्य मानतुंग ने भी आदिनाथ की स्तुति के प्रारम्भिक दो श्लोकों में ऋषभ के चरण-युगल को ही प्रणाम किया है।

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥१॥
यः संस्तुतः सकल-वाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर् जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥२॥

प्रभो! आपके चरण जन्म-जन्मान्तरों में लाभ देने वाले हैं, कल्याणकारी हैं। एक समय था, जब मूर्ति की अपेक्षा चरणन्यास को ज्यादा महत्त्व दिया जाता था। भारतीय संस्कृति में पगलियों की स्थापना का क्रम चलता

१८२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

था। जैन परम्परा में जिनदत्तसूरि की मूर्तियां नहीं हैं, उनके पगलियों की ही स्थापना की गई है। पैरों से ऊर्जा निकलती है और वह ऊर्जा बहुत शक्तिशाली होती है।

बहुत वर्ष पहले एक जानकार व्यक्ति ने आचार्य तुलसी से कहा—आप अपने चरणों का स्पर्श न करने दें। गुरुदेव ने वर्जना भी की, पर वह संभव नहीं हो सका। लोगों की चरण-स्पर्श की भावना और भक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वामी रामसुखदास जी अपने चरणों का स्पर्श नहीं करने देते थे। इस विषय में अनेक पहुंचे हुए संतों और योगियों के साथ चर्चा भी हुई। कुछ दूसरे साधक भी अपने चरणों का स्पर्श नहीं करने देते। यह मत रहा—साधना से ऊर्जा संचित होती है, चरण स्पर्श से वह हीन होती जाती है। मुझे भी बहुत लोगों ने कहा—आपको चरण स्पर्श बंद कर देना चाहिए। कई बार प्रयत्न भी किया पर नहीं हो सका, किन्तु ६०वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में मैंने वर्जना कर दी—मेरे चरण स्पर्श न करें। महाश्रमण का कर सकते हैं।

प्रभो! वर्तमान जन्म में मैं पराभवों का निकेतन बन रहा हूं। उपद्रव मुझे पराभूत कर रहे हैं। अभिभूत करने वाले उपद्रव इसीलिए आते हैं कि मैंने आपके चरणों की उपासना नहीं की। अगर मैं पहले आपके चरणों की उपासना कर लेता तो उपद्रव कभी नहीं आते, मुझे नहीं सताते। व्यक्ति के जीवन में समस्याएं आती हैं, उपद्रव आते हैं, यह तो प्रकृति का नियम है।

किसी भी ज्योतिर्विद् को जन्मकुंडली दिखाओ, वह भविष्यवाणी करेगा—अमुक समय अमुक ग्रह का योग आएगा और ये समस्याएं आएंगी। दुनिया में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो जन्म से लेकर मृत्यु तक ग्रहों की पीड़ा न भोगता हो या अन्य बाहरी समस्याओं से न जूझता हो। समय-समय पर सबके सामने समस्याएं आती रहती हैं।

जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् संत हैं आचार्य विद्यानन्द जी। वे ज्ञान-संपन्न हैं, स्वाध्यायशील हैं। उनका ज्योतिष में पूरा विश्वास है। जब नया वर्ष शुरू होने लगता है, उससे पहले ही वे दक्षिण भारत के अच्छे-अच्छे ज्योतिषियों को बुला लेते हैं और वे पूरे वर्ष का फल निकाल देते हैं। उन्होंने कहा—ज्योतिष के अनुसार जो समय ठीक नहीं लगता, उस समय मैं प्रवचन नहीं करता। स्वाध्याय, ध्यान में लग जाता हूं, मौन-साधना करता हूं। बाहर का संपर्क कम कर देता हूं।

मर्म को पकड़ना सीखें १८३

समस्याएं तो हर व्यक्ति के जीवन में आती हैं। उतार-चढ़ाव भी आते हैं किन्तु साथ में समाधान भी हैं। ऐसा नहीं है कि समस्या हो और समाधान न हो। बीमारी है तो उसके समाधान के लिए औषध भी है।

किसी महापुरुष का संपर्क मिल जाए, उसकी उपासना का मौका मिल जाए तो समाधान हो सकता है। पुष्कर के पास एक बाबा हैं। बड़े साधक आदमी हैं। हमारे पास अनेक बार आते हैं। मैंने देखा कि वे चरणों की उपासना में ज्यादा विश्वास करते हैं। वे मूर्ति की उपासना नहीं करते, चरण की उपासना करते हैं। उनके पास मेरा फोटो भी रहेगा तो सिर्फ चरणों का रहेगा, आकृति का नहीं। उसमें वे ज्यादा लीन रहते हैं। उससे अच्छी ऊर्जा मिलती है।

ऊर्जा दोनों प्रकार की होती है—निगेटिव और पॉजिटिव। प्रकंपन भी दोनों प्रकार के आते हैं। अगर नकारात्मक प्रकंपनों को हम सकारात्मक प्रकंपनों द्वारा पराभूत कर दें तो ऊर्जा बढ़ेगी। वह हमारा कोई अनिष्ट नहीं करेगी। जब नकारात्मक ऊर्जा प्रवाहित होती है और व्यक्ति का मन भी नकारात्मक ऊर्जा से भरा होता है तो उसका अनिष्ट प्रभाव होता है।

आचार्य ने ठीक कहा—प्रभो! ये उपद्रव बार-बार व्यथित कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि मैंने आपके चरणों की उपासना नहीं की। इस बात से हम समझ सकते हैं कि चरणों की उपासना का बड़ा महत्त्व है। चरित्र का बल कब बढ़ता है? उसके लिए उपासना व भक्ति जरूरी है।

अध्यात्म की परम्परा में आचार्य कुंदकुंद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अनेक भक्तियां लिखी हैं—अर्हत् भक्ति, सिद्ध भक्ति, आचार्य भक्ति आदि—आदि। भक्ति बहुत जरूरी है। उपासना भी जरूरी है। उपासना का मतलब है—एक पवित्र आत्मा के निकट बैठना, उपपात में बैठना। उपवास क्या है? एक तरह की उपासना ही है। उपवास का मतलब है आत्मा के निकट रहना। शब्दों पर ध्यान दें, उप और वास—ये दो शब्द हैं। उप का अर्थ है निकट और वास का अर्थ है—निवास करना अर्थात् आत्मा के निकट रहना। उपवास वही होता है जिसमें हम आत्मा के निकट रहें। यह नहीं कि उपवास कर लिया, त्याग कर लिया और दिनभर सावद्य कार्य में लगा रहे या लड़ाई-झगड़ा करता रहे। वह फिर उपवास नहीं होता, लंघन हो जाता है। एक होता है लंघन और एक होता है उपवास। नहीं खाया तो लंघन हो गया पर उपवास नहीं हुआ। उपवास करने की प्राचीन विधि रही है—जब श्रावक उपवास करते

१८४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

तब पौषधशाला में एकान्त में बैठकर, स्वाध्याय ध्यान में सारा दिन बिताते, आत्मलीन रहते। आत्मा के निकट रहना उपवास है।

आचार्य ने बहुत सुन्दर पथदर्शन दिया है—जिन व्यक्तियों को पराभव से बचना है, उनके लिए पवित्र आत्माओं के चरणों की उपासना, उनके निकट बैठना जरूरी है। चाहे एक घंटा मौन बैठा रहे। गुरु एक शब्द न बोले और शिष्य भी न बोले। बोलना भी नहीं चाहिए। बोलेगा तो व्यवधान आएगा। बस उसमें लीन हो जाएं, तल्लीन हो जाएं तो ऊर्जा का अक्षय कोश आपको प्राप्त हो जाएगा।

हम उपासना व भक्ति की विधि को भी जानें। लोग उपासना व भक्ति करते हैं पर विधि को नहीं जानते। उपासना कैसे की जा सकती है? भक्ति कैसे की जा सकती है? उपवास कैसे किया जा सकता है? जब तक इस मार्ग को न जानें तो मर्म नहीं पकड़ा जा सकता। जब तक श्रीकृष्ण ने भीम को दुर्योधन की मृत्यु का रहस्य नहीं बताया, तब तक भीम दुर्योधन का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया। जब उसे रहस्य का पता चल गया—अमुक स्थान पर प्रहार करने से दुर्योधन शक्तिहीन हो जाएगा तब भीम दुर्योधन को पराभूत करने में सफल बना।

मर्म को पकड़ना बहुत जरूरी है। हम कोई भी कार्य करें तो केवल कार्य को नहीं, उसके मर्म को पकड़ें। यदि हम मर्म की बात को पकड़ सकें तो उपासना के द्वारा बहुत अधिक लाभान्वित हो सकते हैं।

३७. समस्या का जनक है मोह

व्यक्ति को अपने जीवन में कभी सार्थकता की अनुभूति होती है और कभी निरर्थकता की। जब अनर्थ आते हैं तब समस्या पैदा होती है। सामान्य भाषा में कहा जाता है कि यह कार्य किया, अनर्थ हो गया। यानी अर्थहीन, प्रयोजनविहीन जो काम हैं उनसे हमेशा समस्या पैदा होती है। कोई भी समझदार आदमी प्रयोजन के बिना काम नहीं करता। तर्कशास्त्र में कहा जाता है—प्रेक्षावतां न प्रयोजनशून्या प्रवृत्तिः—जो प्रेक्षावान् पुरुष हैं, वे प्रयोजन-शून्य प्रवृत्ति नहीं करते। प्रत्येक कार्य का प्रयोजन होता है। खाने का भी प्रयोजन है, चलने का भी प्रयोजन है, बोलने का भी प्रयोजन है। किन्तु अनेक लोग बिना प्रयोजन बोलते रहते हैं। इसीलिए संघर्ष और लड़ाइयां होती हैं। खाने का भी प्रयोजन है किन्तु जो लोग ज्यादा खाते हैं उनके समस्याएं पैदा होती हैं, बीमारियां पैदा होती हैं। प्रयोजन और प्रयोजन के अनुरूप क्रिया, अनुक्रिया, प्रतिक्रिया भी प्रायः होती है।

आचार्य अपनी अनुभूति प्रस्तुत कर रहे हैं—प्रभो! अनर्थ समस्या और कष्ट पैदा कर रहे हैं। वह भी सामान्य नहीं, मर्म का भेदन करने वाला कष्ट पैदा कर रहे हैं। यह नहीं कि एक बार कष्ट आया और समाप्त हो गया। कष्टों की एक परम्परा चल रही है। एक के बाद एक कष्ट, एक के बाद एक समस्या उत्पन्न हो रही है। कहीं अंत नहीं हो रहा है।

कभी-कभी कुछ लोग आते हैं और कहते भी हैं कि एक समस्या को सुलझाता हूं, दूसरी समस्या सामने तैयार रहती है। दूसरी समस्या से छुटकारा मिलता है, तीसरी समस्या खड़ी हो जाती है। यह एक परम्परा चल रही है। इसका कारण क्या है?

जब मैं कारण पर विचार करता हूं तो लगता है कि मैंने आपके दर्शन नहीं किए, एक बार भी आपको नहीं देखा। अगर मैं आपको देख लेता, आपकी वीतराग प्रतिमा का एक बार भी साक्षात् कर लेता तो मेरे राग और द्वेष शांत हो जाते। राग और द्वेष शांत होते हैं तो जीवन में समस्याएं कम आती हैं।

१८६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

समस्या कौन पैदा करता है? आदमी समस्या पैदा करता है। प्रश्न हो सकता है कि जान-बूझकर आदमी समस्या पैदा क्यों करेगा? प्रश्न यह भी हो सकता है—आदमी समस्या पैदा नहीं करता तो फिर समस्याएं क्यों आती हैं? इस कथन में भी सचाई है कि जान-बूझकर व्यक्ति समस्याएं पैदा नहीं करता और यह भी कह सकते हैं कि जान-बूझकर करता भी है। दोनों बातें सच हैं। मोह का वेग ऐसा होता है कि व्यक्ति जानता हुआ भी समस्या पैदा कर लेता है। आज आदमी अनेक बीमारियां जान-बूझकर पैदा करता है और कुछ बीमारियां वातावरण, कीटाणु, परिस्थिति आदि कारणों से पैदा होती हैं। फिर प्रश्न तो वही बना रहता है कि कोई जान-बूझकर समस्या क्यों पैदा करेगा? इसका कारण क्या है?

‘मोहतिमिरावृतलोचनेन’—जिस व्यक्ति की आंख दृष्टिमोह के अंधकार से आवृत होती है, वह सचाई को जानता है पर पालन नहीं करता। समय आता है और यथार्थ को भूल जाता है। इसलिए कि मोह सबसे बड़ी समस्या है। यदि हमारे जीवन में समस्याओं का वर्गीकरण किया जाए तो निष्कर्ष होगा—‘मोह की समस्या सबसे बड़ी समस्या है।’ यही सब समस्याओं की जनक है। जब मोह प्रबल होता है, चेतना विकृत बन जाती है।

चेतना के दो रूप हैं—आवृत और विकृत। ज्ञानावरण कर्म चेतना को आवृत करता है। इससे व्यक्ति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। मोह चेतना को विकृत बनाता है, इससे विकार पैदा होते हैं। जितने आवेश, आवेग, उत्तेजना, लड़ाई-झगड़ा, कलह, कदाग्रह आदि पैदा होते हैं इन सबका मूल है मोह। आदमी में मोह है, इसलिए निषेधात्मक प्रवृत्ति हो रही है।

आचार्य कह रहे हैं—इतने अनर्थ क्यों आ रहे हैं? प्रयोजन-शून्य प्रवृत्तियां क्यों हो रही हैं? इसलिए कि मैंने आपको कभी देखा नहीं। फिर प्रश्न होता है क्यों नहीं देखा? सबने देखा तो तुमने क्यों नहीं देखा? इसलिए नहीं देखा कि मेरी आंखें मोह से आवृत थी। आपके सामने आने का मन ही नहीं करता था। बहुत लोग अच्छाई को देखना पसन्द नहीं करते। अच्छे आदमी के साथ रहना और बात करना भी पसन्द नहीं करते। बुराई को देखने में ही रस लेते हैं। बुरों के साथ बैठने और उन्हें सुनने में ही रस लेते हैं। अच्छाई में उनका बिल्कुल रस नहीं होता। कारण स्पष्ट है—आंख मोह के अंधकार से विकृत बनी हुई है। जिनका मोह क्षीण हो चुका है, जो मोह को क्षीण करने की साधना कर रहे हैं,

समस्या का जनक है मोह १८७

उनकी चेतना विकृत नहीं होती। उनके पास आने वाला व्यक्ति भी निर्मलता और पवित्रता की अनुभूति करता है।

सिद्धसेन आत्मविश्वास के साथ कह रहे हैं—प्रभो! मैं एक बार भी आपका साक्षात्कार कर लेता तो मर्म का भेदन करने वाले अनर्थ, जो विकार पैदा कर रहे हैं और समस्या पैदा कर रहे हैं, वे मेरे सामने नहीं आते। विकारों और कष्टों की परम्परा कभी नहीं बनती। एक बार कष्ट का आना अलग बात है और परम्परा का होना दूसरी बात है। अनुबंध में एक के बाद एक का क्रम चलता रहता है, एक पूरी शृंखला बन जाती है। आपका दर्शन और आपकी वीतराग प्रतिमा का अवलोकन इस कष्ट की परम्परा का विच्छेद करता है। इससे बड़ी जीवन की उपलब्धि क्या हो सकती है?

३८. सफलता का सूत्र है भावक्रिया

आचार्य के मन में एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि इतने प्रलम्ब काल में मुझे आपके साक्षात् दर्शन का सौभाग्य क्यों नहीं उपलब्ध हुआ? मैंने आपकी वाणी क्यों नहीं सुनी?

आचार्य के मस्तिष्क में इस प्रश्न के संदर्भ में यह विकल्प भी उत्पन्न हो गया—**आकर्णितोऽपि**—संभवतः आपके शब्द मेरे कर्ण-कुहरों के विषय बने हैं। **महितोऽपि**—संभवतः मैंने आपकी उपासना भी की है। **निरीक्षितोऽपि**—संभवतः मैंने आपको देखा भी है, किन्तु 'नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या'—भक्तिपूर्वक आपको अपने हृदय में स्थापित नहीं किया।

जब तक कोई शुद्ध आत्मा अपने हृदय-देश में स्थापित नहीं होती तब तक साक्षात्कार नहीं होता।

ध्यान का एक प्रयोग है—तादात्म्य ध्यान। इस प्रयोग में ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने ध्येय को जब हृदय में स्थापित कर लेता है तब उसको निश्चित सफलता प्राप्त होती है। मैंने आपको भक्तिपूर्वक हृदय में स्थापित नहीं किया, शायद यही कारण है कि आज अनर्थों की परम्परा सामने आ रही है।

आचार्य पुनः पीछे की ओर दृष्टिपात करते हैं, अनेक कारण सामने आ रहे हैं। निष्कर्ष पर पहुंच कर आचार्य एक सचाई को प्रस्तुत कर रहे हैं—**यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।** प्रभो! मैं समझ गया कि भावशून्य क्रिया फलित नहीं होती।

आप कोई भी कार्य करें, यदि उसमें तन्मय नहीं हैं तो सफलता नहीं मिलेगी। भोजन करें और आपका मन कहीं दूसरी जगह लगा हुआ है तो भोजन का पाचन सम्यक् नहीं होगा। महर्षि चरक आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य हैं, उन्होंने लिखा—**तन्मना भुञ्जीत**—भोजन करो तो पूर्ण एकाग्रता के साथ करो। ध्यान का प्रयोग करने वालों को निर्देश दिया जाता है कि ध्यान में तन्मय हो जाओ। भोजन कर रहे हो तो केवल खा रहा हूँ—इसी में ध्यान रहे, और किसी

सफलता का सूत्र है भावक्रिया १८६

बात में ध्यान न रहे तो पाचन अच्छा होगा और स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा। भोजन करते समय यदि ध्यान ऑफिस में जा रहा है, रसोई में जा रहा है, अनावश्यक स्मृतियां हो रही हैं तो उसका परिणाम अच्छा कैसे होगा?

आचार्य तुलसी दिल्ली में एक बड़े उद्योगपति के घर में विराज रहे थे। एक दिन वे गुरुदेव की सन्निधि में बैठे थे। गुरुदेव ने कहा—आप कैसा जीवन जी रहे हैं। वे बोले—महाराज! क्यों? गुरुदेव ने फरमाया—‘मैंने देखा कि आप जब भोजन करते हैं तो चारों तरफ फोन की घंटियां बजती रहती हैं। आपका ध्यान खाने में नहीं, व्यापार में लगा रहता है।’

यह घटना जिस समय की है उस समय मोबाइल नहीं थे। आजकल तो समस्या और बढ़ गई है। जेब में सेलफोन रहता है। थोड़ी-थोड़ी देर में सूचनाएं आती रहती हैं। ध्यान उसी में लगा रहता है।

उद्योगपति बोले—‘आचार्यजी! भोजन करता कौन है? मुश्किल से एक-दो रूखी चपाती या खांखरा खाता हूं। भोजन तो मेरा ड्राइवर, जो गैरेज में सो रहा है, करता है। वह आठ-दस चपातियां खा लेता है। कभी-कभी मेरे मन में यह भी आता है कि घर का मालिक वह है या मैं हूं? मैं तो एक रोटी भी नहीं खा सकता और वह दस रोटी खा लेता है। मालिक तो वह बन गया।’ जब मन की एकाग्रता नहीं होती है तो खाना भी अच्छा नहीं लगता और वह क्रिया भावक्रिया भी नहीं होती।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है भावक्रिया। जिस समय जो कार्य करें उसी में मन लगा रहे, कहीं इधर-उधर न जाए। आजकल भाव-क्रिया नहीं, भाव-प्रतिक्रिया हो रही है। एकाग्रता का न होना बीमारी का बहुत बड़ा कारण है। जितनी चंचलता बढ़ेगी, दिमाग उतना ही ज्यादा अस्त-व्यस्त रहेगा। क्या ऐसा संभव है कि जिस समय जो कार्य करें उस समय उसी में एकाग्र रहें, कोई दूसरा काम न करें? खाने के समय खाना, नींद के समय नींद, लेखन के समय लेखन, जागरण के समय जागरण। एक समय में एक ही क्रिया चले, दो नहीं। जहां दो क्रियाएं होती हैं वहां समस्या पैदा होती है।

प्राचीन साहित्य की मार्मिक कथा है। सेठ के दो पत्नियां थीं। सेठ ने एक को ऊपर के कक्ष में रखा और दूसरी को नीचे के कक्ष में। यह क्रम निश्चित हो गया—सेठ एक दिन ऊपर रहेगा और एक दिन नीचे। एक दिन नीचे वाले कक्ष

१६० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

में रहना था। सेठ को क्रम का ध्यान नहीं रहा। सेठ ऊपर के कक्ष की सीढ़ियां चढ़ने लगा, थोड़ा ही चढ़ा होगा कि नीचे रहने वाली पत्नी ने पैर पकड़ लिया और बोली—कहां जा रहे हो? उधर ऊपर रहने वाली ने हाथ पकड़ लिया और बोली—इतनी दूर आ गए, अब वापस नहीं जाने दूंगी। बेचारा पति अधर में लटक गया। न इधर का रहा, न उधर का। एक ऊपर से हाथ खींच रही है, दूसरी नीचे से पैर।

यह हालत क्यों होती है? जिस समय जो कार्य करने का होता है, उस समय वह कार्य नहीं करता तब व्यक्ति बीच में लटकता है, अधर में रह जाता है। इसी संदर्भ में मैंने एक कविता लिखी—

जीना हो ज्योति बन जीना,
जीना हो मोती बन जीना।
बहुत बड़ा अभिशाप जगत् में
आधा जीना आधा मरना॥

आचार्य ने कहा—प्रभो! मैंने जो कार्य किया, वह भावपूर्वक नहीं किया। आपको मैंने भावक्रियापूर्वक नहीं सुना, भावक्रियापूर्वक नहीं देखा और भावक्रियापूर्वक हृदय में स्थापित नहीं किया। इसीलिए ये समस्याएं पैदा हो रही हैं। अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच गया हूँ—भावक्रिया जीवन की सफलता का महत्वपूर्ण सूत्र है। कोई भी कार्य करो, सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो, कुछ भी करो—अगर ये भावशून्य क्रिया है तो उसका समुचित फल प्राप्त नहीं होगा।

जो व्यक्ति जीवन में सफल होना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है, उसके लिए जरूरी है—भावक्रिया का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास, दो कार्य एक साथ न करने का अभ्यास। जिस समय जो काम करें, उस समय पूरे मन से वही काम करें। अगर यह मानसिक चेतना बन जाती है तो सचमुच व्यक्ति सफल होता है, बहुत सारे दुःखों और समस्याओं से मुक्त हो सकता है।

३६. याचना दुःख-बीज को समाप्त करने की

आचार्य सिद्धसेन अर्हत् पार्श्व से प्रार्थना कर रहे हैं—हे प्रभो! मुझ पर दया करो। दया की याचना बहुत बड़ी याचना है। हर कोई दया की याचना नहीं करता। दया अथवा कृपा की याचना उसी व्यक्ति से की जा सकती है जिसमें सामर्थ्य है। शक्तिविहीन व्यक्ति कृपा नहीं कर सकता। शक्तिशाली ही कृपा कर सकता है। कमजोर की कृपा और अकृपा का कोई अर्थ नहीं है। आप कृपा करें क्योंकि आप नाथ हैं।

साधना के क्षेत्र में नाथ सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक गोरखनाथ बड़े साधक हुए हैं। आज भी नाथ सम्प्रदाय के साधक यदा-कदा मिलते रहते हैं। संस्कृत में 'नाथृङ्' धातु पालन के अर्थ में प्रयुक्त होती है। नाथ वह होता है जिसमें रक्षा करने की शक्ति होती है। हर कोई नाथ नहीं हो सकता।

मगध सम्राट् श्रेणिक यात्रा करते हुए मंडित कुक्षि नामक उद्यान में आए। उद्यान को देखते-देखते उनकी आंखें एक ध्यानस्थ मुनि पर टिकी। राजा मुनि के पास गया, वंदना की। मुनि के रूप-लावण्य को देख अत्यन्त विस्मित हो गया। राजा ने कहा—

अहो! वण्णो अहो! रूवं, अहो! अज्जस्स सोमया।

अहो! खंती अहो! मुत्ती, अहो! भोगे असंगया।।

आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है।

आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है।

आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है।

आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है।

तरुणो सि अज्जो! पव्वइयो, भोगकालम्मि संजया!

उवट्टियो सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता।।

राजा ने पूछा—आर्य! अभी तुम तरुण हो! संयत! तुम भोग काल में

१६२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो, इसका क्या प्रयोजन है?
मैं सुनना चाहता हूँ।

अणाहो मि महाराय! नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकंपगं सुहिं वावि, कंचि नाभिसमेमऽहं॥

मुनि ने कहा—महाराज! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर
अनुकंपा करने वाला या मित्र कोई नहीं है।

राजा ने मुनि की बात सुनते ही कहा—

होमि नाहो भयंताणं।

—हे भदन्त! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। मेरे महल में चलो और वहाँ खूब
आनन्द से रहो।

राजा का कथन सुनकर मुनि मुस्कराए और बोले—हे मगध के अधिपति
श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ हो। स्वयं अनाथ होकर तुम दूसरों के नाथ कैसे हो
सकते हो?

अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया! मगहाहिवा!
अप्पणा अणाहो संतो, कहां नाहो भविस्ससि!॥

सम्राट् चौंका। मुनि ने मुझे अनाथ कैसे कहा? शायद मेरा परिचय नहीं
जानते। राजा ने कहा—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोगे, आणा इस्सरियं च मे॥
एरिसे सम्पयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवइ? मां हु भंते! मुसं वए॥

मुनिप्रवर! मेरे पास अपार सम्पदा है। हाथी और घोड़े हैं, नगर और
अंतःपुर हैं, मैं मनुष्य संबंधी भोगों को भोग रहा हूँ और ऐश्वर्य मेरे पास है।

जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किए हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते
हुए मैं अनाथ कैसे हूँ?

नाथ कौन हो सकता है—मुनि ने इसका रहस्य समझाते हुए कहा—हर कोई
आदमी नाथ नहीं बन सकता।

मुनि ने कहा—मैं कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरा कुल सम्पन्न था।
मेरे पिता अपार धन-राशि के स्वामी थे। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ।

याचना दुःख-बीज को समाप्त करने की १६३

एक बार मेरे असह्य अक्षि-रोग उत्पन्न हुआ। उसको मिटाने के लिए परिवार वालों ने नानाविध प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ गए। मेरे ज्ञातिजनों ने मेरी वेदना पर आंसू बहाए, परन्तु वेदना को वे बांट नहीं सके। यह थी मेरी अनाथता।

‘यदि इस पीड़ा से मैं मुक्त हो जाऊं तो मैं मुनि बन जाऊं’—इस संकल्प के साथ मैं सोया। जैसे-जैसे रात बीती, रोग शांत होता गया। सूर्योदय तक मैं स्वस्थ हो गया। माता-पिता की आज्ञा लेकर मैं प्रव्रजित होकर सभी प्राणियों का नाथ बन गया। उन सबको मुझसे त्राण मिल गया। यह है मेरी सनाथता।

स्तुतिकार ने भी नाथ शब्द का प्रयोग किया है। आपमें क्षमता है, सामर्थ्य है, इसलिए आप मुझ पर कृपा सकते हैं।

दूसरी बात—आप ‘दुःखिजनवत्सल’ हैं। दुःखी लोगों को वात्सल्य देने वाले हैं इसलिए आप मुझ पर कृपा कर सकते हैं।

तीसरी बात—आप ‘शरण्य’ हैं, आपमें शरण देने की अर्हता है। इसलिए आप मुझ पर कृपा कर सकते हैं।

चौथी बात—‘कारुण्यपुण्यवसते’ आप करुणा के पवित्र घर हैं। वह आदमी दया और कृपा नहीं कर सकता जिसमें क्रूरता होती है। करुणा के आलय होने के कारण आप कृपा कर सकते हैं।

पांचवी बात—‘वशिनां वरेण्य’—अपने पर नियंत्रण करने वालों में आप श्रेष्ठ हैं। इसलिए आप मुझ पर कृपा कर सकते हैं।

इतनी विशेषताएं आपमें हैं, इसलिए हे महेश्वर! मुझ पर दया करो। मुझ पर कृपा करने वाला कोई नहीं मिला, इसलिए मैं आपके सामने याचना कर रहा हूँ।

मेरी याचना क्या है? ‘दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि’—दुःख का जो बीज है, उस बीज को उखाड़ फेंको। बहुत से आदमी दुःख को मिटा देते हैं। व्यक्ति भूखा है रोटी खिला दी, उसका दुःख मिट गया। कोई प्यासा है, पानी पिला दिया, दुःख मिट गया। एक घंटा बाद फिर प्यासा हो गया, भूख लग गई। जब तक दुःख का बीज समाप्त नहीं होगा तब तक दुःख पैदा होता रहेगा। दुःख का बीज मौजूद है तो दुःख पनपता रहेगा, अंकुरित होता रहेगा। प्रभो! मैं चाहता हूँ कि दुःख का जो अंकुर है, उसको आप जड़ से उखाड़ फेंकें, जिससे मेरे जीवन में कभी दुःख नहीं आए।

१६४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

सांख्य-दर्शन में इस विषय पर बहुत सुन्दर विवेचन है—एक आदमी ने भोजन किया, भूख समाप्त हो गई, तृप्त हो गया। क्या उसका दुःख मिट गया? दूसरे क्षण फिर भूख शुरू हो गई। दो घंटा, चार घंटा बाद वह पुनः प्रबल हो गई। भूख तब समाप्त होती है, जब बीज खत्म हो जाए।

आचार्य ने एक बहुत बड़ी याचना की है। किसी वस्तु या तात्कालिक दुःख समाप्ति की याचना नहीं की है। समस्या की जड़ को उखाड़ने की और बीज को समाप्त करने की याचना की है। जिसकी जड़ समाप्त हो जाती है वह पौधा पनपता नहीं है। जिसका बीज समाप्त हो जाता है उसका अंकुरण भी नहीं होता।

इतने बड़े आचार्य दया की याचना कर रहे हैं। कैसे करें? किसके सामने हाथ पसारें? सामान्य बात के लिए कहें कि मुझ पर कृपा करो तो हीनता की अनुभूति होती है। कृपा करने वाला बड़ा हो जाता है और कृपा की भीख मांगने वाला छोटा हो जाता है। परन्तु दया की याचना बहुत बड़ी याचना है और यह याचना हर किसी व्यक्ति के सामने नहीं की जा सकती। पदार्थ की याचना, धन की याचना, राज्य की याचना की जा सकती है, किन्तु दुःख के बीज को समाप्त कर दें—यह सबसे बड़ी मांग है। इससे बड़ी मांग शायद दुनिया में कोई नहीं हो सकती। इस मांग को पूरा करने वाला भी कौन मिलेगा? वीतराग के सिवाय दूसरा कोई भी व्यक्ति इस मांग को पूरा नहीं कर सकता। इसीलिए सिद्धसेन कहते हैं—प्रभो! आप नाथ हैं। दुःखीजन वत्सल हैं। शरण्य हैं। करुणा के घर हैं और जिनमें नियंत्रण की शक्ति है उन लोगों में आप श्रेष्ठ हैं। इसीलिए कृपा करो और मेरी मांग को पूरा करो।

४०. साधें अभेद प्रणिधान को

आचार्य आत्मनिवेदन कर रहे हैं—आप अनन्त बल के निलय हैं। शरण देने वालों में आप श्रेष्ठ हैं। आपने असंख्य लोगों को शरण दी है। आप शरण हैं, घर हैं, जहां हर कोई आश्रय पा सकता है। घर का एक पर्यायवाची नाम है शरण, जहां कोई भी आकर रह सकता है।

वर्तमान की दुनिया में एक बड़ा आश्वासन है घर। पास में पैसा है, रोटी है, पीने को पानी है, सब कुछ है पर घर नहीं है तो रहे कहां? जिस व्यक्ति का अपना घर नहीं होता, वह किराए का घर लेकर रहता है। घर के बिना जीवन का काम चलता नहीं है। आखिर कोई भी वस्तु लाए तो रखे कहां? धूप-छांव से कैसे बचे? सर्दी-गर्मी-आंधी-पानी आदि समस्याओं से बचने के लिए और अपने पास जो है उसे सुरक्षित रखने के लिए अपेक्षित होता है—घर, आश्रय। वह गृहस्थ नहीं होता जिसके पास घर नहीं होता। आज की यह बड़ी समस्या है कि करोड़ों लोगों के पास अपना कोई घर नहीं है। रोटी-पानी का न होना दुःख का कारण है तो घर का न होना भी दुःख का कारण कम नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में गृहस्थ और साधु के बीच भेदरेखा खींची है—

संजोगा विष्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।

साधु का पहला लक्षण है—संबंधों से मुक्त होना। साधु संबंधों से मुक्त होता है। गृहस्थ का जीवन संबंधों का जीवन होता है। एक बच्चा जन्मता है। जन्मते ही माता-पिता, भाई-बहिन, बूआ आदि के संबंधों की एक शृंखला शुरू हो जाती है। अनेक संबंध जुड़ जाते हैं। साधु के कोई संबंध नहीं होता। सब संबंध समाप्त हो जाते हैं।

साधु का दूसरा लक्षण है—अनगार होना, उसके कोई घर नहीं होता। साधु और गृहस्थ में यह बड़ा अन्तर होता है। जिसके घर नहीं है वह साधु कहलाता है। जिसके घर होता है वह साधु नहीं कहलाता।

१६६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

साधु का तीसरा लक्षण है—भिक्षाजीवी होना। भिक्षु रसोई नहीं बनाता। वह आजीवन माधुकरी वृत्ति से जीवन चलाता है। जो गृहस्थ हैं, जिनके संबंध हैं, घर भी है और रसोई भी है वे भी सबके लिए शरण नहीं बनते। उनके घर के दरवाजे सबके लिए खुले नहीं होते। आप तो ऐसे घर हैं जहां कोई भी व्यक्ति निवास कर सकता है।

प्रभो! आपने बहुत सारी आसुरी शक्तियों को परास्त कर दिया। उससे आप उज्ज्वल बन गए हैं। मैं आपके चरणकमल की सेवा में आ गया, मैंने आपको प्राप्त कर लिया। फिर भी प्रभो! मेरे मन में एक व्यथा है अभी तक मैं आपके प्रणिधान से शून्य रहा हूं। मेरा अभेद प्रणिधान नहीं सध रहा है।

प्रणिधान साधना का एक बड़ा प्रयोग है। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के प्रणिधान बताए गए हैं—**तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणपणिहाणे, वयपणिहाणे, कायपणिहाणे**। मन का प्रणिधान, वचन का प्रणिधान, काया का प्रणिधान।

आचार्य तुलसी के समय जब हमने आगम का काम शुरू किया, उस समय प्रणिधान कक्ष के नाम से साधना के प्रयोग चलते थे। प्रणिधान यानी समाधान, कोई समस्या न रहे। साधना का ऐसा समाधान-सूत्र मिल जाए जहां यह बात भी नहीं आए कि मेरी यह समस्या है। न व्यक्ति के मन में आए और वचन से भी न निकले कि मेरी यह समस्या है। ऐसी साधना सध जाए, आत्मलीनता आ जाए।

प्रभो! आपकी शरण में आकर भी मैं प्रणिधान से वन्ध्य हूं, शून्य हूं। यह मेरे लिए कष्ट की बात है। इसी प्रणिधान-वन्ध्यता के कारण मेरे शत्रुओं के लिए मैं वध्य बना हुआ हूं। वे मुझे मारने के लिए हर समय तत्पर रहते हैं।

बड़ी विचित्र बात है। आचार्य हैं, भिक्षु हैं, साधु हैं, कोई शत्रु नहीं है फिर भी शत्रुओं से आक्रांत होने की बात कर रहे हैं। वस्तुतः इसमें बहुत गहरे रहस्य की बात है।

आचार्य कह रहे हैं—मैं प्रणिधान से वन्ध्य हूं इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभ आदि जितने शत्रु हैं उनके द्वारा वध्य बन रहा हूं। अगर मैं प्रणिधान-वन्ध्य नहीं होता तो उनकी ताकत नहीं होती कि वे मुझे अपना शिकार बना लें। आज तो मैं उनका शिकार बन रहा हूं। **हा हतोस्मि**—यह बड़े खेद की बात है, दुःख की बात है।

साधे अभेद प्रणिधान को १६७

हे भुवनपावन! हे जगत् को पवित्र करने वाले नाथ! अब कृपा करो, मुझमें प्रणिधान आ जाए जिससे मेरे शत्रु मेरा कुछ बिगाड़ न सकें, वध न कर सकें। आपकी शरण में आने पर भी यह नहीं होगा तो फिर कब होगा? इसलिए आप मेरी याचना को स्वीकार करने की कृपा करें और इस स्थिति से मुझे उबार दें।

यह प्रार्थना हर व्यक्ति को करनी चाहिए। हर साधक या अच्छे गृहस्थ को, जो सुख चाहते हैं और दुःखों के मूल को समाप्त करना चाहते हैं, उनके लिए एक बहुत सुन्दर पथदर्शन है।

जो व्यक्ति ऐसी प्रार्थना में अपने आपको लीन कर देता है उसको सिद्धि—सफलता हर क्षण उपलब्ध हो सकती है।

४१. आकांक्षा पवित्रता की

सिद्धसेन उत्कृष्ट वैराग्य की भूमिका में आरोहण कर अपने आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से मोक्ष की याचना कर रहे हैं। वे आत्म निवेदन अथवा प्रार्थना के स्वर में कहते हैं—देवेन्द्र! आप इन्द्र के द्वारा वन्दनीय हैं। केवल वन्दनीय होने से काम नहीं होता। आपकी विशेषता यह है कि जो संपूर्ण ज्ञान का विकास आपके भीतर हुआ है और आपने तत्त्व को जाना है, यह विकास बहुत प्रयत्न-साध्य है।

हमारी दुनिया में दो प्रकार के तत्त्व हैं—सूक्ष्म और स्थूल। हमारे पास इन्द्रियों हैं। हम इन्द्रियों से स्थूल तत्त्व को जान लेते हैं किन्तु सूक्ष्म तत्त्वों को इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। स्थूल दृष्टि वाले लोग स्थूल बात पर अटक जाते हैं, सूक्ष्म तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। अगर सूक्ष्म तक चले जाएं तो विवाद का कोई विषय नहीं रहेगा। जहां स्थूल है और जहां सिर्फ इन्द्रिय चेतना काम करती है, वहां इन्द्रिय-चेतना का जो अंतिम रूप बनता है वह है तर्क और अनुमान। यही सीमा है इन्द्रिय चेतना की। इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले लोग छोटी-छोटी बात पर लड़ाई झगड़ा करते हैं और साम्प्रदायिक उन्माद को भी बढ़ावा देते हैं, किन्तु सूक्ष्म तत्त्व को जानने वाले कभी कलह-कदाग्रह में नहीं जाते।

प्रभो! आपने सारे तत्त्वों के सार को विदित कर लिया है, जान लिया है। आप स्वयं संसार-समुद्र के पार जा रहे हैं और दूसरों को भी तारने वाले हैं। आप विभु हैं, आपका संपूर्ण ज्ञान व्यापक है, सब जगह फैला हुआ है। वह किसी सीमा में बद्ध नहीं है, इसीलिए आप भुवन के अधिनाथ बन गए हैं।

प्रभो! आप करुणा के हृद हैं। हृद को बनाया नहीं जाता। वह जल का नैसर्गिक स्रोत है। बावड़ी, कुआं आदि को खोदा जाता है तब पानी निकलता है। हृद वह होता है जिसकी खुदाई नहीं होती। स्वभावतः भूमि से पानी निकलता है। आप करुणा के हृद हैं, जलाशय हैं इसलिए—हे स्वामिन्! 'त्रायस्व'—आप मेरी रक्षा करो। 'मां पुनीहि'—मुझे पवित्र बना दो।

आकांक्षा पवित्रता की १६६

प्रश्न हो सकता है—इतना डर क्या है कि कोई तुम्हारी रक्षा करे? कौन आक्रमण कर रहा है? साधु हैं, पास में पैसा नहीं है तो फिर डर किस बात का है? क्यों डर रहे हैं? क्यों इतनी याचना कर रहे हैं? सिद्धसेन ने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दे दिया—यह संसार-समुद्र है, कष्टों का घर है। उन कष्टों से मैं अवसाद में जा रहा हूँ, इसलिए आप मेरी रक्षा करो। कुछ कष्ट तो ऐसे होते हैं जो आते हैं तब आदमी डरता है। चले जाते हैं तो सामान्य हो जाता है। किन्तु कुछ कष्ट ऐसे होते हैं जो कभी जाते ही नहीं हैं।

यह संसार दुःखमय है। यहां जन्म और मृत्यु का चक्र चल रहा है। आज एक व्यक्ति मनुष्य गति में है। मरने के बाद पता नहीं कहां जाएगा? आदमी मरने के बाद पशु हो सकता है, पक्षी हो सकता है, छोटा कृमि भी हो सकता है। कोई स्वर्ग और नरक में भी जा सकता है। संसार इतना विचित्र है कि इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। पिछले कितने जन्मों में आदमी किस रूप में रहता आ रहा है, यह जानना कठिन है और जान जाए तो उसे संभालना भी बड़ा कठिन है। जिस व्यक्ति में धैर्य नहीं, क्षमता नहीं, यदि उसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाए तो समस्या पैदा हो सकती है, दुःख पैदा हो सकता है। भारतीय दर्शन में दो परम्पराएं रही हैं—दुःखवाद और सुखवाद।

जैन और बौद्ध—ये दोनों परम्पराएं दुःखवाद का अनुसरण करती हैं। भगवान् महावीर ने कहा—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।

अहो! दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥

संसार में जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है। सारा संसार दुःखमय है। इसलिए व्यक्ति मोक्ष की याचना कर रहा है। भगवान् बुद्ध का भी यही वचन है—संसार में दुःख है इसीलिए व्यक्ति मोक्ष की याचना कर रहा है।

मोक्ष में न टी.वी. है, न इन्टरनेट। न मोबाइल है और न आइपोंड। आखिर वहां क्या है? कुछ भी नहीं। फिर मोक्ष की कामना क्यों? संसार पदार्थ बहुल है, मोक्ष पदार्थ रहित है। वहां न कोई बाजार है, न कोई ज्वैलरी। न हीरा, न पन्ना। न रुपया, न पैसा। फिर मोक्ष की इच्छा क्यों? पदार्थ के साथ दुःख जुड़ा है। व्यक्ति दुःख से मुक्त होना चाहता है। दुःख-मुक्त होने के लिए पदार्थ के ममत्व से मुक्त होना अनिवार्य है।

२०० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

इसीलिए आचार्य प्रार्थना कर रहे हैं—प्रभो! मैं विपत्तियों से पीड़ित हूं। वे मुझे भयभीत कर रही हैं। आप मेरी रक्षा करो और मुझे पवित्र बना दो। पदार्थ की मूर्च्छा के कारण मेरा जीवन अपवित्र बना हुआ है। अब मैं पवित्र होना चाहता हूं।

यह पवित्रता की आकांक्षा साधना के संकल्प को प्राणवान् बनाती है और इससे सिद्धि का पथ प्रशस्त हो जाता है।

४२. तादात्म्य परम के साथ

आचार्य सिद्धसेन प्रस्तुत श्लोक में निवेदन कर रहे हैं—मैं लक्ष्य तक पहुंच जाऊं—यही फल मुझे आपके चरणकमलों की भक्ति का मिले।

आदमी निष्फल कार्य करना नहीं चाहता। ऐसा कार्य करना नहीं चाहता, जिसका फल न मिले। गीता में कहा गया—फल की आकांक्षा मत करो। क्या आज यह संभव है? निष्फल क्रिया कौन करेगा? कोई भी समझदार व्यक्ति वह क्रिया नहीं करेगा जिसका परिणाम न आए।

भक्ति का फल है—आत्मशोधन, निर्जरा। इसके सिवाय और कोई आकांक्षा न हो। यही मोक्ष है। आत्मा की जितनी-जितनी शुद्धि, उतना-उतना मोक्ष। मोक्ष कोई एक दिन में नहीं होता। कोई भी काम एक दिन में संपन्न नहीं होता। एक परम्परा होती है।

आज आम का बीज बोया। क्या आज ही फल मिल जाएगा? गेहूं, चावल आदि अनाज के बीज बोएं और आज ही फल चाहें तो नहीं मिलेगा। खाद, जल सिंचन, धूप आदि का योग मिलता है तब उचित समय पर परिपाक होता है। उचित श्रम और शक्ति का नियोजन होता है तब फल प्राप्त होता है।

निष्ठा, समर्पण और धैर्य—भक्ति के साथ इनका विकास जरूरी है। ये नहीं होते हैं तो आदमी भगवान् को भी भला-बुरा कह देता है। जो चाहा वह मिल गया तो बहुत बड़ी भक्ति हो गई और जो चाहा, नहीं मिला तो गालियां देनी शुरू कर दी। कुछ लोग जो देव-भक्ति करते हैं, फल मिल जाता है तो बड़े भक्त बन जाते हैं और कभी काम पूरा नहीं होता तो गालियां भी देने लग जाते हैं। यह भक्ति नहीं है। यह तो स्वार्थपूर्ति का बहाना है। इसीलिए आचार्य कहते हैं—‘संततसंचितायाः’—भक्ति का क्रम निरंतर चलता है। भक्ति हर स्थिति में होती है। कोई भी परिस्थिति आए, भक्ति में अन्तर नहीं आएगा। आपकी भक्ति का फल मैं इतना ही चाहता हूं कि आप मेरे स्वामी बन जाएं। मुझे स्वीकार कर लें। यही मेरी प्रार्थना है।

२०२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग-स्तव में लिखा—प्रभो! मैं आपका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ, किंकर हूँ। आप केवल ओम् कह दो, बस हां कह दो और मैं आपसे कुछ नहीं चाहता।

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किंकरः।
ओमिति प्रतिपद्यस्व नाथ! नातः परं ब्रुवे॥

आचार्य सिद्धसेन भी यही कह रहे हैं कि आप मुझे स्वीकार कर लो, मेरे स्वामी बन जाओ और जब कोई स्वामी बनता है तब सेवक को किसी प्रकार की चिंता नहीं रहती। स्व-स्वामी संबंध होता है। जब स्वामी है तो उसका स्व बन गया, आत्मीय बन गया। फिर उसको कोई चिंता नहीं रहती। माँ की करुणा इतनी सघन होती है बच्चे को कोई चिंता नहीं रहती। क्योंकि वह रक्षक है। आचार्य कह रहे हैं—आप मेरे स्वामी बन जाओ। **‘तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य! भूयाः’**—मैं आपको स्वामी इसीलिए बना रहा हूँ कि आप ही शरण हैं, और कोई दूसरा शरण नहीं है। समस्या का समाधान है शरण में होना। श्रीकृष्ण ने कहा—**‘मामेकं शरणं ब्रज’**। यह अहंकार की भाषा नहीं है। जब तक व्यक्ति एकनिष्ठ नहीं बनता, तब तक जो चाहता है वह उसे नहीं मिलता। आखिर एकनिष्ठ होना होता है।

एक व्यक्ति भक्ति में लीन रहता था। एक दिन कोई संत गांव में आए। उसने प्रवचन सुना। प्रवचन में संत ने शिवजी का महत्त्व बताया। उसने अपने घर में शिवलिंग की स्थापना कर ली। महीना, दो महीना बाद किसी दूसरे संत से भैरव की महिमा सुनी। घर आकर भैरव-मूर्ति की स्थापना कर ली। कुछ समय बाद सुना—आजकल हनुमानजी का चमत्कार हो रहा है। अपने घर में हनुमानजी की मूर्ति स्थापित कर ली। कुछ दिनों बाद सुना कि आजकल रामदेवजी का बड़ा चमत्कार है तो घर में उनकी भी मूर्ति स्थापित कर ली। मूर्तियों से घर भर गया। एक दिन घर में चोरी हो गई। अब क्या करे, पागल सा हो गया। शिवजी के पास आया, बोला—प्रभो! मेरा सब-कुछ चला गया। मुझे बचाओ-मुझे बचाओ। शिवजी बोले—यह भैरव ज्यादा शक्तिशाली है उसके पास जाओ। भैरव के पास जाकर बोला—आप मुझे बचाओ। उन्होंने कहा—आजकल हनुमानजी ज्यादा शक्तिशाली हैं उनके पास जाओ। हनुमानजी ने कहा—रामदेवजी के पास जाओ। रामदेवजी ने भी नया विकल्प सुझा दिया। उसने सोचा—कोई भी मुझे नहीं बचा रहा है। मैंने तो इन सबकी मूर्तियां स्थापित की। उसने गुस्से में आकर सबकी मूर्तियां फेंक दी।

तादात्म्य परम के साथ २०३

जो एक की शरण नहीं लेता, जिसकी आस्था केन्द्रित नहीं होती, उसकी यही हालत होती है। निष्ठा की एकात्मकता के बिना सफलता नहीं मिलती।

सफलता का बड़ा सूत्र है सर्वात्मना निष्ठा। एक स्थान पर निष्ठा के बिना समस्या पैदा होती है।

एक आदमी आया और बोला—‘मेरे मन की स्थिति अच्छी नहीं है। मैं इसके लिए ध्यान का कौन सा प्रयोग करूं।’

मैंने पूछा—‘समस्या क्या है?’

‘समस्या यह है कि आज मैं कपड़े की दुकान खोलता हूँ। दस दिन बाद मन में आता है कि यह अच्छी नहीं चल रही है। मुझे अनाज का धंधा करना चाहिए। अनाज का धंधा शुरू करता हूँ। फिर मन में आता है कि आजकल तो ज्वैलरी का व्यापार बहुत चल रहा है। उसे प्रारम्भ करता हूँ। फिर छोड़ देता हूँ। मैं कोई भी व्यापार लम्बे समय तक नहीं चला सकता। शुरू करते ही बंद करने की मन में आती है। हर व्यापार में असफल हो जाता हूँ।’

जिसकी कार्य के प्रति एकनिष्ठा नहीं होती, उसकी यही स्थिति बनती है। चाहे व्यावहारिक कार्य हो या आध्यात्मिक कार्य, एकनिष्ठा के बिना, सघन साधना के बिना कोई आदमी लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता।

एक आदमी डॉक्टर के पास गया, बोला—‘डॉक्टर साहब! सिर में दर्द हो रहा है।’ डॉक्टर ने दवा दे दी। एक घंटा बाद पुनः आया। डॉक्टर ने देखा—वह उदास है।

डॉक्टर ने कहा—‘लगता है तुम्हारा सिरदर्द ठीक नहीं हुआ। लो, दवा बदल देता हूँ।’

‘डॉक्टर साहब! दवा बदलने की जरूरत नहीं है, मैंने अपना डॉक्टर बदल लिया है।’

आज आदमी में धैर्य नहीं है। बात दवा और डॉक्टर बदलने की नहीं है। आज तो इस तरह का बदलाव होता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज ही एक घटना पढ़ी। विदेश में एक शादी-समारोह में बहुत लोग इकट्ठे हुए। समारोह सम्पन्न हुआ, सब लोग जा रहे थे। उसी समय एक अंगूठी को लेकर विवाद हुआ। दरवाजे पर आते-आते तलाक की बात हो गई।

२०४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

आदमी बदलता रहता है। घर बदलता है, कपड़े बदलता है, सबको बदलता है। आजकल तो ऐसा लगता है कि पति व पत्नी को बदलना भी कपड़े को बदलने जैसा हो गया है। यह अधैर्य और असहिष्णुता का परिणाम है।

आचार्य कहते हैं—प्रभो! मेरे लिए आप ही शरण हैं, दूसरा कोई विकल्प नहीं है। निर्विकल्प रूप से मैंने आपकी शरण स्वीकार की है। इसलिए मैं आपसे यही निवेदन कर रहा हूँ कि आप मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें—वर्तमान जन्म में और अगले जन्म में भी मेरे स्वामी बने रहें। मैं आपका सेवक हूँ, स्व हूँ। आप मेरे स्वामी हैं। इतना स्वीकार कर लो। इससे आगे कोई प्रार्थना मैं नहीं करूँगा।

प्रार्थना का यह अभिक्रम परम के साथ तादात्म्य का महान् संकल्प है। जो परम से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसे वह उपलब्धि प्राप्त होती है, जिसकी सामान्य आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता।

४३. स्तुति का फल

आचार्य सिद्धसेन ने अर्हत् पार्श्व की स्तुति में कल्याण मंदिर स्तोत्र का निर्माण किया। काव्य की समाप्ति में वे लिखते हैं—**इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्रः**—जिनेन्द्र! जैसे मैंने स्तुति की है वैसे ही समाहित बुद्धि वाले लोग विधिपूर्वक आपकी स्तुति करें।

बुद्धि का होना एक बात है और समाहित बुद्धि का होना बिल्कुल दूसरी बात है। समाहित बुद्धि यानी बुद्धि में एकाग्रता आ जाए। बुद्धि में एकाग्रता तभी आती है जब चित्त समाधि में होता है। व्याकुल चित्त में एकाग्रता नहीं होती। चित्त जब समाधिपूर्वक होता है तब उसमें एकाग्रता का विकास होता है।

सिद्धसेन कहते हैं—**त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः**—समाहित बुद्धि वाले जो लोग हैं उनका लक्ष्य आपके निर्मल मुख-कमल को देखने में लगा हुआ है। लोग चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हैं तो चंद्र-बिम्ब के दर्शन में एकाग्र हो जाते हैं। चन्द्रमा ध्यान करने का एक बड़ा साधन है। जो लोग चन्द्रमा का ध्यान करते हैं, चन्द्रमा जैसे निर्मल रंग का ध्यान करते हैं, वे उसमें एक लक्ष्य हो जाते हैं। अथवा अपने प्रतिबिम्ब में एक लक्ष्य हो जाते हैं। ध्यान का एक प्रयोग है—दर्पण के सामने खड़े होकर उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखना और उस प्रतिबिम्ब पर एकाग्र होना। इससे लक्ष्य की सिद्धि जल्दी हो जाती है।

चक्रवर्ती भरत स्नान करने के पश्चात् शीशमहल में बैठे। वह पूरा महल दर्पणमय था। चारों ओर दर्पण ही दर्पण। वे उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख रहे थे। कथा इस रूप में प्रचलित है—उन्होंने अंगुली में पहनी मुद्रिका उतारी और उसे पुनः धारण किया। उन्होंने देखा—आभूषण है तो अंगुली सुंदर लगती है। आभूषण उतरते ही उसकी सुंदरता कम हो जाती है। इस चिन्तन में उनकी एकाग्रता हो गई और उन्हें कैवल्य उपलब्ध हो गया।

आगम साहित्य में कैवल्य-उपलब्धि का संदर्भ दूसरा उपलब्ध होता है। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति का स्पष्ट पाठ है—**अत्ताणं पेहेमाणे पेहेमाणे**—चक्रवर्ती

२०६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

भरत शीशमहल में दर्पण के सामने बैठे। उस दर्पण में अपनी आत्मा को, अपने आपको देखते-देखते केवली बन गए। आत्म-साक्षात्कार का यह बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग है।

आचार्य सिद्धसेन आगे कहते हैं—प्रभो! जो लोग बिम्ब की भांति या दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की भांति आपके मुखाब्ज को देखते हैं, उसे देखना जिनका लक्ष्य होता है, ते संस्तवं तव विभो! रचयन्ति भव्याः—वे भव्य लोग तुम्हारे स्तवन की रचना करते हैं।

सांद्रोल्लसत्पुलककञ्चुकितांगभागाः—स्तुति की रचना करते समय उनका सारा शरीर पुलकित हो जाता है, हर्ष से प्रत्येक अंग कंचुकित हो जाता है। ऐसा लगता है जैसे पूरे शरीर पर हर्ष की, रोमाञ्च की कंचुकी पहन ली है। इतनी भक्ति और श्रद्धा के साथ जो लोग आपकी भक्ति, स्तुति की रचना करते हैं वे शीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त होते हैं।

**जननयनकुमुदचन्द्र!,
प्रभास्वराः स्वर्गसंपदो भुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचया,
अचिरान् मोक्षं प्रपद्यन्ते॥**

कल्याण मंदिर स्तोत्र का यह अंतिम पद्य है। स्तोत्र का समाहार करते हुए सिद्धसेन कहते हैं—**जननयनकुमुदचंद्र!** आप जनता के नयनकमल के लिए चंद्र के समान हैं। जैसे कुमुद के लिए चंद्रमा होता है, वैसे ही जनता के नयन के लिए आप चन्द्र-तुल्य हैं।

कमल दो प्रकार होते के हैं—सूर्य-विकासी और चंद्र-विकासी। कुछ सूर्य से विकस्वर होते हैं और कुछ चन्द्रमा से। कुमुद चन्द्रमा के प्रकाश से विकस्वर होता है।

आचार्य जैन शासन में दीक्षित हुए तब उनका नाम रखा गया था कुमुदचन्द्र। बाद में उनका नाम हो गया आचार्य सिद्धसेन। प्रस्तुत चरण में श्लेष के साथ आचार्य ने अपना नाम भी प्रकट कर दिया। विद्वान् आचार्य ऐसे द्व्यर्थक प्रयोग कर देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने स्तुति काव्य में लिखा—**वहेमचन्द्रद्युति**। इसमें क्रिया भी है और उसके अंतर्गत अपना नाम भी है।

स्तुति का फल २०७

आचार्य भावपूर्ण स्वर में कह रहे हैं—स्तुति में लीन वे लोग प्रभास्वर होकर, स्वर्ग संपदा का उपभोग कर, सारे मलों का विगलन कर शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

कल्याण मंदिर में भगवान् पार्श्व की स्तुति का प्रारम्भ नमस्कार से हुआ और समाप्ति मोक्ष से। हमारा लक्ष्य है मोक्ष।

सिद्धसेन कहते हैं—जो विधिवत् यह स्तवना करता है वह सब मलों से मुक्त होकर मोक्ष तक चला जाता है।

एक महान् लक्ष्य रहा—बंधन-मुक्ति। हर आदमी बंधन से मुक्ति चाहता है। कोई भी व्यक्ति बंधन में रहना नहीं चाहता। आदमी ही नहीं, पशु-पक्षी भी बंधन में रहना पसंद नहीं करते। आदमी गाय, भैंस, घोड़े आदि को बांध कर रखता है पर वे रहना नहीं चाहते। तोते को पिंजरे में बंद कर रखा जाता है पर वह बंधन-मुक्ति के लिए छटपटाता रहता है।

सेठ के पास एक बहुत कुशल तोता था। मनुष्य की भाषा में बोलता था। सेठ भी उसका बहुत ध्यान रखता था। उसे अच्छा खाने को मिलता था फिर भी वह पिंजरे के बंधन से मुक्ति के लिए छटपटाता था क्योंकि परतंत्रता आखिर परतंत्रता है। स्वतंत्रता का अपना मूल्य होता है। कहा गया—**सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुःखम्**। परवश होना ही दुःख है। अपने अधीन रहना सुख है।

एक दिन सेठ कहीं जा रहा था। तोते ने पूछा—कहां जा रहे हैं?

सेठ बोला—नगर में विद्वान् संत आए हैं। उनका प्रवचन सुनने जा रहा हूं।

तोता बोला—‘मालिक! अच्छी बात है। प्रवचन सुनने के साथ मेरे एक प्रश्न का उत्तर भी ले आना।’

सेठ—‘क्या है तुम्हारा प्रश्न?’

तोता—‘बंधन-मुक्ति कैसे हो सकती है?’

सेठ धर्मसभा में पहुंचा। संत प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन संपन्न हुआ और प्रश्नोत्तर का क्रम शुरू हो गया। सेठ खड़ा हुआ, बोला—‘संतवर! मेरा कोई प्रश्न नहीं है किन्तु मेरे प्रिय तोते ने एक प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए कहा है। उसका प्रश्न यह है कि बंधन-मुक्ति कैसे हो सकती है?’

प्रश्न सुनते ही संत पट्ट पर निढाल होकर गिर गए, बेहोशी जैसी स्थिति

में चले गए। सब लोग यह दृश्य देखकर अवाक् रह गए। कुछ क्षण बाद वे फिर समाधिस्थ होकर बैठ गए।

सेठ प्रवचन सुनकर लौटा। तोते ने पूछा—‘मालिक! प्रवचन सुन आए?’

सेठ—‘हां, बहुत अच्छा प्रवचन था।’

तोता—‘क्या मेरे प्रश्न का उत्तर भी लाए हैं?’

सेठ—‘तेरे प्रश्न का उत्तर क्या लाया? बड़ा अनर्थ हो गया।’

तोता (विस्मय से)—‘क्या अनर्थ हुआ?’

सेठ—‘जैसे ही मैंने प्रश्न पूछा, संतजी एकदम निढाल होकर नीचे गिर गए। बेहोशी की सी स्थिति में चले गए।’

तोता—‘अब तो संतश्री के ठीक है?’

सेठ—‘हां, कुछ देर बाद वे पुनः स्वस्थ हो गए।’

सेठ रहस्य नहीं समझ पाया किन्तु तोता संत के निढाल होने का रहस्य समझ गया।

कुछ समय पश्चात् सेठ भीतर गया। आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर दुकान पर चला गया। सायं घर लौटा, पिंजरे के पास गया तो देखा—तोता कायोत्सर्ग की मुद्रा में निश्चेष्ट लेटा पड़ा है, एकदम शांत है। सेठ ने सोचा—गजब हो गया। तोता तो मर गया। अब भीतर रखने से क्या फायदा?

सेठ ने पिंजरे का दरवाजा खोला, तोते को बाहर निकाला, शिलापट्ट पर रखा। जैसे ही उसने खाली पिंजरे के द्वार को बंद किया, तोता उड़ा, आकाश में चला गया। उसकी बंधन-मुक्ति हो गई।

कायोत्सर्ग किया, शरीर की पकड़ को छोड़ा और बंधन से मुक्ति मिल गई। जब तक हम पकड़ रखेंगे तब तक बंधन है। पकड़ को छोड़ेंगे तब बंधन-मुक्ति है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य भी यही बतलाया गया—**विसोहिकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कंमाणं निग्घायणट्टाए ठामि काउस्सगं**—विशोधि के लिए, निःशल्य होने के लिए और पाप कर्मों का विनाश करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूं।

तोते ने कायोत्सर्ग किया और बंधन-मुक्ति हो गई। सेठ को भी संत के निढाल होकर गिरने का रहस्य समझ में आ गया।

स्तुति का फल २०६

व्यक्ति बंधन से मुक्त होने के लिए छटपटाता है। आत्मा में यह छटपटाहट निरंतर बनी रहती है। वह कभी नहीं चाहता कि मैं शरीर के बंधन में रहूं। आत्मा भी स्वतंत्र रहना चाहता है, अपनी स्वतंत्र सत्ता को पाना चाहता है। अभी वह बंधन में है। कितने बंधन और आवरण हैं? कर्मण शरीर का वलय बना हुआ है, तैजस शरीर का वलय बना हुआ है। उसके बाद यह औदारिक शरीर है और इसकी कितनी प्रवृत्तियां हैं। कितनी बंधी हुई है आत्मा। यदि कोई ऐसा संत मिल जाए, मुक्ति का रहस्य बता दे तो आत्मा का ऊर्ध्वारोहण हो जाए।

आचार्य सिद्धसेन ने कल्याण मंदिर स्तोत्र के अंतिम श्लोक में यही लिखा है—प्रभो! जो व्यक्ति रोमांचित होकर, पुलकित होकर, समाहित बुद्धि से एकाग्रता के साथ आपकी स्तुति करता है, स्तुति में लीन होता है उसे अंतिम फल मिलता है मोक्ष। मोक्ष की उपलब्धि के साथ ही सारी कामनाएं और आकांक्षाएं निःशेष हो जाती हैं।

एक परम पवित्र उद्देश्य के साथ रचा गया यह स्तोत्र बहुत प्रभावक और मंगलकारी है। श्रद्धा, भक्ति और तन्मयता के साथ इस स्तोत्र का पाठ करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में सदा शांति और मंगल का अनुभव कर सकता है।

परिशिष्ट

कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्

अन्वय, अनुवाद और शब्दार्थ

१. कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमंहिपद्यम्।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य॥

अन्वय— कल्याणमन्दिरम् उदारम् अवद्यभेदि भीताभयप्रदम् अनिन्दितम्
संसारसागर-निमज्जदशेष-जन्तुपोतायमानं जिनेश्वरस्य
अंहिपद्यम् अभिनम्य.....॥

अनुवाद— कल्याण के निलय, मनोवांछित देने वाले, पाप का भेदन करने
वाले, भयभीत व्यक्तियों को अभय देने वाले, सर्वदोष रहित,
संसार-सागर में डूबते हुए समस्त प्राणियों के लिए पोततुल्य पार्श्व
जिनेश्वर के चरणकमल में प्रणाम कर स्तुति करूंगा।

शब्दार्थ— कल्याणमन्दिरं—श्रेयोगृहम्
उदारं—मनोऽभीष्टदानाद् दातारम्
अवद्यभेदि—पापं भिनत्तीत्येवंशीलं अवद्यभेदि
अनिन्दितं—सर्वदोषरहितम्
पोतायमानं—पोतवदाचरत् पोतायमानं नौतुल्यम्
अंहिपद्यं—चरणकमलम् इति।

२. यस्य स्वयं सुरगुरुगरिमाम्बुराशेः,
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये॥

अन्वय— यस्य गरिमाम्बुराशेः स्वयं सुविस्तृतमतिः सुरगुरुः स्तोत्रं
विधातुम् न विभुः, कमठस्मयधूमकेतोः तस्य तीर्थेश्वरस्य
किल एष अहं संस्तवनं करिष्ये॥

अनुवाद— जिस गरिमा के सागर की स्तुति करने में स्वयं विपुल बुद्धि वाले
बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं, जो कमठ के अहंकार को नष्ट करने
के लिए धूमकेतु (अग्नि) हैं, उस तीर्थकर पार्श्वनाथ का मैं स्तवन
करूंगा।

शब्दार्थ— गरिमाम्बुराशेः—गरिम्णः अम्बुराशिः गरिमाम्बुराशिः तस्य
गरिमाम्बुराशेः

सुविस्तृतमतिः—सुविपुलबुद्धिः

सुरगुरुः—बृहस्पतिः

विधातुम्—निर्मातुम्

विभुः—क्षमः

कमठस्मयधूमकेतोः—कमठस्य स्मयः (अहंकारः) तस्य कृते
धूमकेतोः—अग्नेः

३. सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः॥

अन्वय— हे अधीश! अस्मादृशाः सामान्यतः अपि तव स्वरूपं वर्णयितुं
कथम् अधीशाः भवन्ति, दिवान्धः कौशिकशिशुः धृष्टः अपि
किल किं घर्मरश्मेः रूपं प्ररूपयति?

अनुवाद— हे अधीश! हमारे जैसे (मन्दमति वाले) लोग साधारण रूप से भी
तुम्हारे स्वरूप का वर्णन करने में कैसे सक्षम हो सकते हैं? नहीं
हो सकते। दिवान्ध उल्लू का शिशु कितना ही धृष्ट-प्रगल्भ क्यों
न हो, क्या वह सूर्य के भास्वर स्वरूप का निरूपण कर सकता
है? नहीं कर सकता।

शब्दार्थ— अस्मादृशाः—अस्मद्विधा वयमिव दृश्यन्ते इत्यस्मादृशा मन्दमतयो
जनाः

सामान्यतोऽपि—निर्विशेषतोऽपि

अधीशाः—समर्थाः

धृष्टोऽपि—प्रगल्भोऽपि

दिवान्धो—दिवससमये अन्धः

कौशिकशिशुः—उलूकशावकः

घर्मरश्मेः—सूर्यस्य

४. मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्,
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः॥

अन्वय— नाथ! मोहक्षयाद् अनुभवन् अपि मर्त्यः तव गुणान् गणयितुं
नूनं न क्षमेत यस्मात् कल्पान्तवान्तपयसः जलधेः रत्नराशिः
प्रकटः अपि ननु केन मीयेत?

अनुवाद— हे नाथ! मोह का क्षय होने पर केवलज्ञान से जानने वाला
(केवलज्ञानी) मनुष्य भी तुम्हारे गुणों की गणना करने में निश्चित
रूप से समर्थ नहीं है। प्रलयकालीन पवन के द्वारा जल से खाली
हो जाने पर समुद्र की रत्नराशि स्पष्ट दिखाई देती है, फिर भी क्या
कोई उसको माप सकता है?

शब्दार्थ— मोहक्षयात्—मोहयतीति मोहः घातिकर्मचतुष्टयं तस्य क्षयात्—
विनाशात्
गुणान्—अनन्तज्ञानादिकान्
अनुभवन्नपि—साक्षाज्जानन्नपि
कल्पान्तवान्तपयसः—क्षयं गतं पयो—जलं यस्य तस्य
कल्पान्तवान्तपयसः
प्रकटोऽपि—प्रत्यक्षोऽपि
मीयेत—प्रमाणीक्रियेत

५. अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ! जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः॥

अन्वय— नाथ! जडाशयः अपि लसदसंख्यगुणाकरस्य तव स्तवं कर्तुम्
अभ्युद्यतः अस्मि। बालः अपि निजबाहुयुगं वितत्य किम्
स्वधिया अम्बुराशेः विस्तीर्णतां न कथयति ?

अनुवाद— हे नाथ! अज्ञ होते हुए भी कान्तिमय असंख्य गुणों के आकर
तुम्हारा स्तवन करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। क्या एक छोटा
बालक भी अपनी भुजाओं को फैलाकर अपनी बुद्धि से समुद्र के
विस्तार को अभिव्यक्त नहीं करता ?

शब्दार्थ— जडाशयोऽपि—अज्ञोऽपि
लसदसंख्यगुणाकरस्य—दीप्यदसंख्येयगुणखानेः
अभ्युद्यतः—कृतोद्यमः
वितत्य—विस्तार्य
विस्तीर्णतां—विशालताम्

६. ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं,
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि॥

अन्वय— ईश! तव ये गुणाः योगिनाम् अपि वक्तुं न यान्ति तेषु मम
अवकाशः कथं भवति? एवम् तद् इयम् असमीक्षितकारिता
जाता। वा ननु पक्षिणः अपि निजगिरा जल्पन्ति।

अनुवाद— हे स्वामिन्! तुम्हारे गुण योगियों के भी वाणी का विषय नहीं बनते,
उनके विषय में मुझे बोलने का अवकाश कैसे हो सकता है?
अवकाश का विचार किए बिना ही मैंने स्तुति आरम्भ की है, यह
मेरी असमीक्षितकारिता ही है—समीक्षापूर्ण कार्य नहीं है। अथवा
मनुष्य जैसी स्पष्ट भाषा को नहीं जानने वाले पक्षी भी अपनी भाषा
में बोलते ही हैं।

शब्दार्थ— वक्तुं न यान्ति—वाचो गोचरतां न प्राप्नुवन्ति
असमीक्षितकारिता—अविचारितकारिता
निजगिरा—स्वभाषया
जल्पन्ति—वदन्ति

७. आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

अन्वय— जिन! अचिन्त्यमहिमा ते संस्तवः आस्तां, भवतः नाम
अपि जगन्ति भवतः पाति। निदाघे तीव्रातपोपहतपान्थजनान्
पद्मसरसः सरसोऽनिलः अपि प्रीणाति।

अनुवाद— हे जिन! अचिन्त्य महिमा वाला तुम्हारा स्तवन तो दूर, तुम्हारा
नाम भी प्राणियों की संसार से सुरक्षा करता है। ग्रीष्म ऋतु में तीव्र
धूप से व्याकुल पथिकों को पद्म-सरोवर तो दूर, उसका जलकण
युक्त पवन भी तृप्ति देता है।

शब्दार्थ— अचिन्त्यमहिमा—अचिन्तनीयमाहात्म्यः

आस्तां—दूरे तिष्ठतु

भवतः—तव

भवतः—भवात्-संसारात्

जगन्ति—विश्वानि

पाति—रक्षति

निदाघे—ग्रीष्मे

सरसः—सूक्ष्मजलशीकरपरिगतः

अनिलः—वायुः

प्रीणाति—प्रीतिमुत्पादयति

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २१६

८. हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥

अन्वय— विभो! त्वयि हृद्वर्तिनि जन्तोः निबिडा कर्मबन्धाः अपि
क्षणेन शिथिलीभवन्ति वनशिखण्डिनि मध्यभागम् अभ्यागते
सद्यः चन्दनस्य भुजंगममया बन्धा इव।

अनुवाद— हे विभो! तुम जिस मनुष्य के हृदय में विराजमान होते हो, उसके
सघन कर्मबंध भी क्षणभर में वैसे ही शिथिल हो जाते हैं, जैसे
वन-मयूर के मध्यभाग में आने पर चन्दनवृक्ष के सर्पमय बन्धन
शीघ्र ही शिथिल हो जाते हैं।

शब्दार्थ— हृद्वर्तिनि—हृदयमध्यवर्तिनि सति
जन्तोः—जीवस्य
निबिडा अपि—सुदृढा अपि
कर्मबन्धाः—जीवप्रदेशैः सह कर्माणूनां बन्धाः, अयः-
पिण्डन्यायेनान्योन्यानुगमनस्वरूपाः कर्मबन्धाः
क्षणेन—अचिरात्
शिथिलीभवन्ति—अशिथिलाः शिथिला भवन्ति इति
शिथिलीभवन्ति
वनशिखण्डिनि—वनमयूरे
चन्दनस्य—चन्दनद्रुमस्य

६. मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः॥

अन्वय— जिनेन्द्र! त्वयि वीक्षिते अपि मनुजा रौद्रैः उपद्रवशतैः सहसा मुच्यन्ते। स्फुरिततेजसि गोस्वामिनि दृष्टमात्रे प्रपलायमानैः चौरैः आशु पशवः इव।

अनुवाद— हे जिनेन्द्र! तुम्हारे दर्शन मात्र से मनुष्य सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से सहसा वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे स्फुरित तेज वाले सूर्य को देखने मात्र से भागते हुए चोरों से पशु मुक्त हो जाते हैं।
इसका श्लेष यह है—तेजस्वी राजा अथवा गायों के तेजस्वी स्वामी के देखने मात्र से दौड़ते हुए चोरों से पशु मुक्त हो जाते हैं।

शब्दार्थ— वीक्षितेऽपि—दृष्टमात्रेऽपि
सहसा—शीघ्रम्
रौद्रैः—भयङ्करैः
उपद्रवाणां शतानि—उपद्रवशतानि तैः
गोस्वामिनि—गोपाले
गोस्वामिनि—सूर्ये
स्फुरिततेजसि—दीप्तकिरणे
प्रपलायमानैः—नश्यद्भिः

१०. त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद् वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः॥

अन्वय— जिन! त्वं भविनां तारकः कथं, यद् ते एव उत्तरन्तः त्वां
हृदयेन उद्वहन्ति यद् वा नूनम् एषः दृतिः यत् जलं तरति सः
अन्तर्गतस्य मरुतः अनुभावः किल।

अनुवाद— हे जिन! तुम भव्य प्राणियों के तारक कैसे हो? क्योंकि संसार-
समुद्र से पार होते हुए भव्य प्राणी ही तुमको हृदय में धारण करते
हैं। अथवा फिर निश्चित रूप से दृति (दीबड़ी) जल में तैरती है,
यह उसके अंतःस्थित हवा का ही प्रभाव है।

शब्दार्थ— भविनां—संसारिणाम्
दृतिः—मशकः
मरुतः—वायोः
अनुभावः—प्रभावः

११. यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः,
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन॥

अन्वय— यस्मिन् हरप्रभृतयः अपि हतप्रभावाः स रतिपतिः अपि
त्वया क्षणेन क्षपितः। येन पयसा हुतभुजः विध्यापिता किं
दुर्धरवाडवेन तदपि (पयः) न पीतम्....

अनुवाद— जिस कामदेव ने शंकर आदि देवों को भी हतप्रभ यानी परास्त कर
दिया, उस कामदेव को भी तुमने क्षणभर में नष्ट कर दिया। जो
जल अग्नि को बुझा देता है, उसी जल को क्या समुद्र की प्रचण्ड
बड़वाग्नि जलाकर नष्ट नहीं कर सकती? अवश्य कर सकती है।

शब्दार्थ— हरप्रभृतयोऽपि—हर-हरि-विरञ्चिप्रमुखा अपि देवाः
हतप्रभावाः—गतानुभावाः कामेन हरादयोऽपि देवा विजिताः
क्षणेन—स्तोककालेन
क्षपितः—क्षयं नीतः
हुतभुजः—अग्नयः
विध्यापिताः—निर्वाणं प्रापिताः
दुर्धरवाडवेन—उद्धतवडवाग्निना

१२. स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्नास्,
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः॥

अन्वय— हे स्वामिन्! प्रपन्नाः जन्तवः अनल्पगरिमाणम् अपि त्वां हृदये
दधानाः अहो! कथम् अतिलाघवेन जन्मोदधिं लघु तरन्ति।
यदि वा महतां प्रभावो हन्त न चिन्त्यः।

अनुवाद— हे स्वामिन्! तुम्हारे शरणागत प्राणी अत्यधिक गुरुता से युक्त तुम्हें
हृदय में धारण करके भी हलकेपन के साथ संसार-समुद्र को शीघ्र
कैसे तर लेते हैं? इतना भार उठाकर इतना हलकापन! यह आश्चर्य
का विषय है अथवा निश्चय ही महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य
होता है।

व्याख्या— प्रस्तुत श्लोक में दो शब्दों का प्रयोग किया है, जिसके दो-दो अर्थ
निकलते हैं। प्रथम चरण में 'गरिमाणम्' शब्द का एक अर्थ है भार
और दूसरा अर्थ है महानता। इसी प्रकार तीसरे चरण में 'लाघवेन'
शब्द का एक अर्थ है हलकापन और दूसरा अर्थ है कौशल।

शब्दार्थ— प्रपन्नाः—स्वामित्वेनाश्रिताः शरणागताः
अनल्पगरिमाणमपि—अतिबहुप्रौढिमानमपि
दधानाः—धरन्तः
अतिलाघवेन—१. अल्पस्यापि भारस्याभावादतिलघुत्वेन
२. Dexterity
लघु—शीघ्रम्
यदि वा—अथवा
महतां—जगत्त्रयप्रकृष्टानाम्
प्रभावः—माहात्म्यम्
हन्त—निश्चयेन
चिन्त्यः—चिन्तनार्हः, मननयोग्यः इत्यर्थः

२२४ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

१३. क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥

अन्वय— हे विभो! यदि त्वया प्रथमं क्रोधः निरस्तः तदा बत! किल कर्मचौराः कथं ध्वस्ताः? यदि वा अमुत्र लोके शिशिरा हिमानी अपि नीलद्रुमाणि विपिनानि किं न प्लोषति?

अनुवाद— हे विभो! यदि तुमने पहले ही क्रोध को पूर्णतः समाप्त कर दिया तो फिर कर्मरूपी चोरों को कैसे नष्ट किया? बिना रोष के क्या कोई किसी को नष्ट कर सकता है? (नहीं कर सकता) अथवा लोक में शीतल स्वभाव वाली हिमानी (हिमसमूह) भी क्या हरे-भरे वृक्षों वाले जंगलों को नहीं जलाती? जलाती ही है।

शब्दार्थ— निरस्तः—मूलतोऽपि क्षिप्तः
ध्वस्ताः—व्यापादिताः
शिशिरापि—शीतलस्वभावाऽपि
हिमानी—महद् हिमम्
विपिनानि—वनानि
प्लोषति—दहति

१४. त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य संभवि पदं ननु कर्णिकायाः॥

अन्वय— जिन! योगिनो परमात्मरूपं त्वाम् सदा हृदयाम्बुजकोशदेशे
अन्वेषयन्ति। यदि वा पूतस्य निर्मलरुचेः अक्षस्य कर्णिकायाः
अन्यत् किं पदं सम्भवि?

अनुवाद— हे जिन! योगी तुम्हारे परमात्मस्वरूप को सदैव हृदयकमल के
कोश भाग में खोजते हैं। अथवा पवित्र और निर्मल आभा वाले
कमलबीज का कर्णिका से भिन्न कौन सा स्थान हो सकता है?

शब्दार्थ— योगिनः—मुनयः

हृदयाम्बुजकोशदेशे—हृदयमेवाम्बुजं-कमलं तस्य कोशः कर्णिका
तस्य देशो भागः तस्मिन्

अन्वेषयन्ति—मार्गयन्ति, ज्ञानचक्षुषा विलोकयन्ति।

पूतस्य—पवित्रस्य

निर्मलरुचेः—विमलकान्तेः

अक्षस्य—कमलबीजस्य

कर्णिकायाः—बीजकोशात्

१५. ध्यानाज्जिनेश! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥

अन्वय— जिनेश! भवतः ध्यानात् भविनः देहं विहाय क्षणेन परमात्मदशां
व्रजन्ति। लोके धातुभेदाः तीव्रानलाद् उपलभावम् अपास्य
अचिरात् चामीकरत्वम् इव।

अनुवाद— हे जिनेश! तुम्हारा ध्यान करने वाले प्राणी शरीर का त्याग कर
क्षणभर में ही परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे लोक में
विभिन्न धातुएं प्रचण्ड अग्नि के योग से पाषाणत्व को छोड़कर
क्षणभर में ही स्वर्णत्व (अपनी शुद्ध अवस्था) को प्राप्त हो
जाती हैं।

शब्दार्थ— भवतः—तव

भविनः—प्राणिनः

परमात्मदशां—परमशुद्धस्वरूपावस्थाम्

व्रजन्ति—प्राप्नुवन्ति

तीव्रानलात्—प्रबलाग्नियोगात्

उपलभावं—पाषाणत्वम्

अपास्य—परित्यज्य

धातुभेदाः—पाषाणविशेषाः, धातुप्रकाराः

चामीकरत्वं—स्वर्णत्वम्

अचिरात्—क्षणात्

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २२७

१६. अन्तः सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्वम्,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्त्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः॥

अन्वय— जिन! यस्य अन्तः भव्यैः सदैव त्वं विभाव्यसे तदपि शरीरं
कथं नाशयसे? अथ मध्यविवर्त्तिनः महानुभावाः एतत् स्वरूपं
यत् विग्रहं प्रशमयन्ति।

अनुवाद— हे जिन! जिस शरीर के मध्यभाग—हृदय में भव्य प्राणी सदैव
तुम्हारा ध्यान करते हैं, आश्चर्य है, तुम उसी शरीर का क्यों नाश
करते हो? मध्यस्थवर्ती महानुभावों का यह स्वभाव ही है कि वे
विग्रह^१ का उपशमन कर देते हैं।

शब्दार्थ— अन्तः—मध्ये

विभाव्यसे—ध्यायसे

मध्यविवर्त्तिनः—द्वयोर्विरोधिनोर्मध्ये-अन्तरः विवर्तते इत्येवं
शीलो, मध्यविवर्ती, मध्यस्थः उभयपक्ष-तुल्यः
पक्षपातरहितानां हि मध्यविवर्त्तिनां युद्धप्रशमनं
युक्तमेव।

स्वरूपं—स्वभावः

१. विग्रह के दो अर्थ होते हैं—१. शरीर, २. कलह।

१७. आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति॥

अन्वय— जिनेन्द्र! इह मनीषिभिः त्वदभेदबुद्ध्या ध्यातः अयम् आत्मा
भवत्प्रभावः भवति। अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानं (नाम)
पानीयम् अपि विषविकारं किं नो अपाकरोति?

अनुवाद— हे जिनेन्द्र! मनीषी जन तुम्हारे साथ अभेद का अनुभव करते हुए
इस आत्मा का ध्यान करते हैं, तब उनकी आत्मा तुम्हारे समान
प्रभाव वाली हो जाती है। पानी को भी अभेद बुद्धि से—‘यह अमृत
है’ इस तरह अनुचिन्तन किए जाने पर क्या वह भी विष के विकार
को दूर नहीं करता? (विष के विकार को दूर करता है।)

शब्दार्थ— त्वदभेदबुद्ध्या—त्वदेकबुद्ध्या
पानीयम्—जलम्
अपाकरोति—निराकरोति

१८. त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो! हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश! सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥

अन्वय— विभो! नूनं परवादिनः अपि वीततमसं त्वाम् एव हरिहरादिधिया
प्रपन्नाः। ईश! काचकामलिभिः सितोऽपि शंखः किं
विविधवर्णविपर्ययेण नो गृह्यते?

अनुवाद— हे विभो! निश्चित रूप से अन्यतीर्थिक भी हरि, हर आदि की बुद्धि
से वीतराग स्वरूप वाले तुमको ही स्वीकार करते हैं। हे ईश! क्या
काचकामल रोग वाले मनुष्य सफेद वर्ण वाले शंख को भी नाना
रंग विपर्यय से नीला, पीला आदि ग्रहण नहीं करते?

शब्दार्थ— परवादिनः—परतीर्थिकाः
वीततमसं—गतपापं गततमोगुणं वा वीतरागमित्यर्थः
प्रपन्नाः—आश्रिताः वर्तन्ते
सितोऽपि—धवलोऽपि
काचकामलिभिः—चक्षुरोगवद्भिः
विविधवर्णविपर्ययेण—पीतादिनानावर्णविपर्यासेन

१६. धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः॥

अन्वय— धर्मोपदेशसमये सविधानुभावात् जनः आस्तां तरुः अपि
अशोको भवति। वा दिनपतौ अभ्युद्गते समहीरुहोऽपि
जीवलोकः किं विबोधं न उपयाति ?

अनुवाद— धर्मोपदेश के समय तुम्हारे सामीप्य के प्रभाव से मनुष्य की तो
बात ही क्या, वृक्ष भी अशोक हो जाता है। अथवा क्या सूर्य के
उदित होने पर वनस्पति सहित समस्त जीवलोक जागृत अवस्था
को प्राप्त नहीं होता ?

शब्दार्थ— धर्मोपदेशसमये—धर्मदेशनाक्षणे
सविधिं—समीपं
अनुभावः—प्रभावः
तरुरपि—वृक्षोऽप्यव्यक्तचेतनोऽपि
अभ्युद्गते—उदिते
जीवलोकः—सकलविश्वप्राणिगणः
समहीरुहोऽपि—महीरुहैः—वनस्पतिभिः सह वर्तते यः सः समहीरुहः

२०. चित्रं विभो! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!,
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि॥

अन्वय— विभो! चित्रम् सुरपुष्पवृष्टिः विष्वक् अविरला कथम्
अवाङ्मुखवृन्तम् एव पतति। यदि वा मुनीश! त्वद्गोचरे
सुमनसां बन्धनानि नूनम् अध एव हि गच्छन्ति।

अनुवाद— विभो! आश्चर्य है कि देवताओं के द्वारा चारों ओर की गई सघन
पुष्पवृष्टि में पुष्पों के वृन्त अधोमुख कैसे होते हैं? अथवा हे
मुनीश! तुम्हारे दर्शन होने पर सुमनस्^१ मनुष्यों के बंधन निश्चित
रूप से नीचे ही चले जाते हैं।

शब्दार्थ— चित्रं—आश्चर्य

सुरपुष्पवृष्टिः—सुरमुक्तकुसुमवृष्टिः

अविरला—घना, सच्छिद्रा न

अवाङ्—इत्यव्ययमधोवाचकम्

विष्वक्—समन्तात्—गगनाद् भूमौ गच्छन्ति

त्वद्गोचरे—भवद्विषये

सुमनसां—सुमनस् शब्देन सहृदया जनाः पुष्पाणि च प्रोच्यन्ते

बन्धनानि—बन्धनशब्देन स्नेहनिगडादिना कृता यातना, पुष्पाणां
वृन्तं चोच्यते

१. सुमनस् के तीन अर्थ होते हैं—१. अच्छे मन वाला, २. फूल, ३. देवता। प्रस्तुत संदर्भ में
अच्छे मन वाला अर्थ ग्राह्य है। श्लेष में फूल अर्थ भी प्रासंगिक है।

२१. स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परमसम्मदसंगभाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम्॥

अन्वय— स्थाने यत् गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः तव गिरः पीयूषतां
समुदीरयन्ति। यतो तां पीत्वा परमसम्मदसंगभाजः भव्याः
तरसाऽप्यजरामरत्वं व्रजन्ति।

अनुवाद— भव्य प्राणी गंभीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली तुम्हारी
वाणी के अमृतत्व का कथन करते हैं। यह उचित ही है। क्योंकि
उसे पीकर परम आनन्द से युक्त भव्यजन शीघ्र ही अजरामरत्व को
प्राप्त कर लेते हैं।

शब्दार्थ— स्थाने—उचितम्
गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः—गम्भीरहृदयाम्बुधिप्रभवायाः
पीयूषतां—अमृतत्वम्
गिरः—वचांसि
समुदीरयन्ति—वदन्ति
परमसम्मदसंगभाजः—परमहर्षसंज्ञभाजः
अजरामरत्वं—जरामरणरहितत्वम्
व्रजन्ति—प्राप्नुवन्ति

२२. स्वामिन्! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तः,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः॥

अन्वय— स्वामिन्! (अहम् एवं) मन्ये, शुचयः सुरचामरौघाः सुदूरम्
अवनम्य समुत्पतन्तो वदन्ति। ये शुद्धभावाः अस्मै मुनिपुङ्गवाय
नतिं विदधते, ते नूनं खलु ऊर्ध्वगतयो भवन्ति।

अनुवाद— हे स्वामिन्! मैं मानता हूँ कि देवताओं का पवित्र चमर-समूह
अत्यधिक नीचे झुककर ऊपर जाते हुए कह रहा है कि शुद्ध भाव
वाले मनुष्य, जो इस मुनि श्रेष्ठ (पार्श्व) को नमस्कार करते हैं, वे
निश्चय ही ऊर्ध्वगति वाले होते हैं।

शब्दार्थ— सुदूरम्—to a very high degree

अवनम्य—अधो नत्वा

समुत्पतन्तः—सम्यगूर्ध्व-नभसि गच्छन्तः सन्तः

नतिं—प्रणामम्

नूनं—निश्चितम्

२३. श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वल-हेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्,
चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्॥

अन्वय— श्यामं गभीरगिरम् उज्ज्वलहेमरत्न-सिंहासनस्थं रभसेन उच्चैः
नदन्तं त्वां भव्यशिखण्डिनः चामीकराद्रिशिरसि नवाम्बुवाहम्
इव आलोकयन्ति।

अनुवाद— भव्य प्राणी रूपी मयूर नीली आभा एवं गंभीर गिरा वाले, देदीप्यमान
रत्नजटित स्वर्ण सिंहासन पर स्थित उच्च स्वर में बोलते हुए—इस
प्रकार देखते हैं कि मानो सुमेरु पर्वत के शिखर पर श्याममेघ जोर
से गर्जन कर रहे हों।

शब्दार्थ— श्यामं—कृष्णवर्ण, कविसमये नीलकृष्णयोरेकत्वात् नीलवर्णम्
गभीरगिरं—मधुरशब्दं
उज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थं—देदीप्यमानस्वर्णमिश्ररत्न-
सिंहासनस्थितम्
रभसेन—वेगेन
नदन्तम्—गर्जन्तम्
चामीकराद्रिशिरसि—स्वर्णगिरिशिखरे
नवाम्बुवाहम्—नवमेघम्
भव्यशिखण्डिनः—भव्यमयूराः

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २३५

२४. उद्गच्छता तव सितद्युति-मण्डलेन,
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग!,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि॥

अन्वय— हे वीतराग! उद्गच्छता तव सितद्युतिमण्डलेन अशोकतरुः
लुप्तच्छदच्छविः बभूव। यदि वा कः सचेतनोऽपि तव
सान्निध्यतोः अपि नीरागतां न व्रजति ?

अनुवाद— हे वीतराग! ऊपर जाते हुए तुम्हारे श्वेत आभामण्डल से अशोक
वृक्ष के लाल पत्ते भी अपने राग-रक्त छवि से रहित हो जाते हैं।
अथवा कौन सचेतन प्राणी तुम्हारे सान्निध्य मात्र से वीतरागता को
प्राप्त नहीं करता? अवश्य करता है।

शब्दार्थ— द्युतिमण्डलेन—कान्तिकलापेन, भामण्डलेनेति

उद्गच्छता—ऊर्ध्व गच्छता प्रसरता

लुप्तच्छदच्छविः—लुप्ता छदच्छविः पत्रकान्तिर्यस्य स
लुप्तच्छदच्छविः

यदि वा—अथवा

नीरागतां—निर्गतरागताम्

२५. भो! भो! प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव! जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते॥

अन्वय— हे देव! मन्ये, अभिनभः नदन् ते सुरदुन्दुभिः जगत्त्रयाय
एतन्निवेदयति—भो! भो! प्रमादम् अवधूय आगत्य निर्वृतिपुरीं
प्रति एनं सार्थवाहं भजध्वम्।

अनुवाद— हे देव! मैं मानता हूँ कि आकाश में निनाद करती हुई तुम्हारी
देवदुन्दुभि तीनों लोकों के लिए यह निवेदन कर रही है कि प्रमाद
को छोड़कर मोक्षनगरी की ओर जाने वाले इस सार्थवाह के पास
आकर (पार्श्वनाथ का) आश्रय लो।

शब्दार्थ— अभिनभः—अभि-व्याप्य नभः नभसीत्यर्थः
नदन्—शब्दं कुर्वन्
सुरदुन्दुभिः—देवदुन्दुभिः
अवधूय—परित्यज्य
निर्वृतिपुरीं प्रति—मुक्तिनगरीं प्रति
सार्थवाहं—सार्थं वाहयतीति सार्थवाहस्तम्
भजध्वम्—समाश्रयध्वम्

२६. उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ!
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप-कलितोल्लसितातपत्र-
व्याजात् त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः॥

अन्वय— नाथ! भवता भुवनेषु उद्योतितेषु तारान्वितो अयं विधुः
विहताधिकारः मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात्
त्रिधा धृततनुःअभ्युपेतः (अस्ति)।

अनुवाद— नाथ! तुमने तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया, इसलिए तारों से
युक्त यह चन्द्रमा अधिकार रहित हो गया। मोतियों के समूह से
युक्त और उल्लसित तुम्हारे तीन छत्रों के बहाने से चन्द्रमा ही तीन
शरीर को धारण कर तुम्हारी शरण में आ गया।

शब्दार्थ— भुवनेषु—त्रिषु जगत्सु
उद्योतितेषु—प्रकाशितेषु
विहताधिकारः—उद्वलितः अधिकारो यस्य सः विहताधिकारः
तारान्वितः—ताराभिः अन्वितः सहितः तारान्वितः
विधुः—चन्द्रः
आतपत्रं—आतपात् त्रायते इत्यातपत्रम्
अभ्युपेतः—त्वामाश्रितः

२३८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

२७. स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन,
कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन।
माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन,
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि॥

अन्वय— माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन सालत्रयेण स्वेन प्रपूरित-
जगत्त्रय-पिण्डितेन कान्ति-प्रताप-यशसां संचयेन अभितः
इव विभासि।

अनुवाद— हे भगवन्! माणिक्य, स्वर्ण और रजत से निर्मित तीन प्राकारों से
तुम चारों ओर सुशोभित होते हो तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो
आप अपने कान्ति, प्रताप और यश से तीनों लोकों को परिपूरित
कर (तीन प्राकारों के रूप में) पिण्डीभूत हो गए हों।

शब्दार्थ— सालत्रयेण—वप्रत्रिकेण

अभितः—समन्तात्

प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन—व्याप्तविश्वत्रयपिण्डीभूतेन
जगत्त्रयप्रपूर्य यो वर्धितः स पिण्डीभूतः।

२८. दिव्यस्रजो जिन! नमत्-त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव॥

अन्वय— जिन! नमत्त्रिदशाधिपानां दिव्यस्रजो रत्नरचितानपि
मौलिबन्धान् उत्सृज्य भवतः पादौ श्रयन्ति। यदि वा त्वत्सङ्गमे
सुमनसः^१ परत्र न रमन्त एव।

अनुवाद— हे जिन! नमस्कार करते हुए इन्द्रों की दिव्य मालाएं रत्ननिर्मित
मुकुटों के बंधनों को छोड़कर तुम्हारे चरणों का आश्रय लेती हैं।
अथवा तुम्हारा सान्निध्य प्राप्त होने पर पवित्र मन वाले व्यक्ति
अन्य स्थान पर रति को प्राप्त नहीं करते।

शब्दार्थ— नमत्त्रिदशाधिपानां—प्रणमद्देवेन्द्राणां
मौलिबन्धान्—शिरोमुकुटबन्धनानि
उत्सृज्य—त्यक्त्वा
दिव्यस्रजः—अद्भुतपुष्पमालाः
भवतः—तव
श्रयन्ति—भजन्ते
सुमनसः—सुहृदयाः जनाः, पुष्पाण्यपि हि सुमनसः प्रोच्यते।

१. यहां 'सुमनस्' शब्द पवित्र मन वाले व्यक्ति और फूल दोनों का वाचक है। इसलिए
सुमनस् शब्द से कवि ने चमत्कार उत्पन्न किया है।

२६. त्वं नाथ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि,
यत् तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिव-निपस्य-सतस्तवैव,
चित्रं विभो! यदसि कर्मविपाकशून्यः॥

अन्वय— नाथ! त्वं जन्मजलधेः विपराङ्मुखः अपि निजपृष्ठलग्नान्
असुमतो यत् तारयसि पार्थिवनिपस्य^१ सतः तव एव युक्तम्।
विभो! चित्रं यत् कर्मविपाकशून्यः असि।

अनुवाद— हे नाथ! संसार-समुद्र से विमुख होने पर भी अपनी पीठ से संलग्न
(जिन भगवान् के द्वारा आसेवित ज्ञान आदि के मार्ग का अनुगमन
करने वाले) प्राणियों को पार पहुंचाते हो, पार्थिव निप होने के
कारण आपके लिए यह उचित ही है।
विभो! आश्चर्य यही है कि घड़ा विपाक सहित है और तुम कर्म
विपाक रहित हो।

शब्दार्थ— जन्मजलधेः—भवसमुद्रात्
विपराङ्मुखोऽपि—प्रतिकूलोऽपि/जलभागस्थितमुखतया स
विपराङ्मुख एवोच्यते।
निजपृष्ठलग्नान्—जिनासेवितज्ञानादिमार्गानुगामिनः
यत् तारयसि—यत् पारं प्रापयसि
हि—निश्चितम्
पार्थिवनिपस्य—मृन्मयो घटः, तस्य
सतः—विद्यमानस्य
कर्मविपाकशून्यः—कर्मणां-ज्ञानावरणादीनां विपाकः फलोप-
भोगस्तेन शून्यः रहितः। पार्थिवघटस्तु कर्मभिः
कुम्भकार-क्रियाभिः विपचनं-विपाकस्तेन
शून्यो न भवति, अग्निविपाकयुक्तो भवति।

१. पार्थिव के दो अर्थ हो सकते हैं—

१. मिट्टी का घड़ा।

२. प्राणियों की समग्रता से रक्षा करने वाले।

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २४१

३०. विश्वेश्वरोऽपि जनपालक! दुर्गतस्त्वं,
 किं वाऽक्षरप्रकृति-रप्यलिपिस्त्वमीश!
 अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव,
 ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु॥

अन्वय— जनपालक! त्वं विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः असि। ईश! किं वा त्वम् अक्षरप्रकृतिः अपि अलिपिः असि। अज्ञान् अवति अपि त्वयि सदैव विश्वविकासहेतु ज्ञानं कथंचिद् एव स्फुरति।

अनुवाद— हे जनपालक! तुम विश्व के ईश्वर हो फिर भी दुर्गत (दरिद्र) हो। हे ईश! अक्षर स्वभाव वाले होते हुए भी तुम अलिपि (लेप रहित) हो। अज्ञानवान् (अज्ञ लोगों के रक्षक) होने पर भी तुम्हारे में विश्व को प्रकाशित करने वाला ज्ञान कैसे स्फुरित होता है?

व्याख्या— प्रस्तुत श्लोक में कवि ने विशिष्ट कल्पना-शक्ति का प्रयोग किया है। एक ओर भगवान् पार्श्व को विश्वेश्वर बताया है। दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत 'दुर्गत' (दरिद्र) कहा है। यहां 'दुर्गत' शब्द का एक दूसरा अर्थ निकलता है 'दुर्गम्य', जिसको जानना मुश्किल होता है। वस्तुतः यहां 'दुर्गम्य' अर्थ ही है, किन्तु दुर्गत शब्द का दरिद्र अर्थ भी होता है। इससे विरोधाभास अलंकार उजागर हो रहा है।

इसी प्रकार श्लोक के दूसरे चरण में कवि ने भगवान् पार्श्व को 'अक्षर-प्रकृति' यानी अक्षर (अक्षय) स्वभाव वाला कहा है। अक्षर का दूसरा अर्थ है वर्ण। अलिपि शब्द से इसका विरोध प्रकट होता है। जो वर्णात्मक स्वभाव वाला होता है वह लिपिरहित कैसे हो सकता है? अतः अक्षर और अलिपि में विरोधाभास अलंकार है।

तीसरे चरण में 'अज्ञानवति' शब्द-प्रयोग है। यहां मूलतः दो पद हैं 'अज्ञान्' 'अवति' अर्थात् अज्ञानियों की रक्षा करने वालों में।

२४२ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

किन्तु शब्द-रचना इतनी वैदुष्यपूर्ण है कि दूसरा अर्थ निकल जाता है अज्ञानवान्। इसका अर्थ है अज्ञानसंपन्न। चौथे चरण में कहा गया है—तुम्हारे में ज्ञान का स्फुरण हो रहा है, यह अज्ञानवान् के साथ विरोधाभास अलंकार है।

शब्दार्थ— विश्वेश्वरोऽपि—जगत्स्वाम्यपि

दुर्गतः—दरिद्रः

अक्षरप्रकृति—श्रीपाश्वर्ष इति नाम्नाऽक्षरस्वभावोऽपि अक्षराणां प्रकृतिर्यत्र सः।

अलिपिः—लिपिरहितः। न विद्यते लिपिर्यस्य स अलिपिः।

मोक्षगतत्वादपतनस्वभावः, एवंविधत्वमलिपिः—न

विद्यते लिपिः—कर्ममलसंसर्गो यस्य सो अलिपिरिति।

अज्ञानवति—अज्ञानमस्यास्तीति अज्ञानवान् तस्मिन्।

अवति—रक्षति

अज्ञान्—मूर्खान्।

३१. प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ! हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा॥

अन्वय— नाथ! शठेन कमठेन रोषाद् प्राग्भारसंभृतनभांसि यानि रजांसि
उत्थापितानि तैः तव छायाऽपि न हता। अमीभिः अयम् एव
हताशो दुरात्मा ग्रस्तः।

अनुवाद— हे नाथ! मायावी कमठ ने क्रोध के कारण समग्रता से आकाश को
भर देने वाली जो धूल प्रकट की, उससे तुम्हारी छाया भी नष्ट नहीं
हुई। परन्तु यह हताश दुरात्मा (कमठ) ही कर्म रूपी रजों से ग्रस्त
हो गया।

शब्दार्थ— रोषात्—कोपात्

प्राग्भारसंभृतनभांसि—प्राग्भारेण-सामस्त्येन सम्भृतं-व्याप्तं नभो
गगनं यैस्तानि

उत्थापितानि—प्रकटीकृतानि

तैः—रजोभिः

हताशः—हता आशा यस्य सः

अमीभिः—कर्मरजोभिः

दुरात्मा—पापात्मा

३२. यद्गर्जदूर्जित-घनौघमदभ्र-भीमं,
 भ्रश्यत्-तडिन्मुसल-मांसल-घोरधारम्।
 दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्ने,
 तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारिकृत्यम्॥

अन्वय— जिन! यद् दैत्येन गर्जदूर्जितघनौघम् अदभ्रभीमं भ्रश्यत्-तडित्-
 मुसल-मांसलघोरधारं दुस्तरवारि मुक्तम्। अथ तेन एव तस्य
 दुस्तरवारिकृत्यम्।

अनुवाद— हे जिन! दैत्य (कमठ) ने आकाश से गिरती हुई विद्युत् से युक्त
 अत्यधिक रौद्र और गरजते हुए प्रबल मेघ-समूह के द्वारा मुसल के
 समान मांसल घोर धाराओं वाले दुस्तर जल को छोड़ा। वह जल
 उस दैत्य के लिए दुष्ट तलवार बन गया।

शब्दार्थ— दैत्येन—कमठेन

गर्जदूर्जितघनौघं—गर्जन्त ऊर्जिता-प्रबलाः घनौघाः मेघसमूहा यत्र
 तत्

अदभ्रभीमंभ्रश्यत्तडित्—अदभ्रा-अतिघना भीमाः रौद्राः भ्रश्यन्त्यो-
 नभसः पतन्त्यः तडितो विद्युतो यत्र तत्

मुसलमांसलघोरधारम्—मुसलवन्मांसला मुसलमांसला
 लक्षणयाऽतिपुष्टा घोरा-रौद्रा धारा यत्र तत्

दुस्तरवारि—दुःखेन तीर्यत इति दुस्तरं, दुस्तरं च तद् वारि च
 दुस्तरवारि।

तस्य—कमठस्य

दुस्तरवारिकृत्यम्—दुर्-दुष्टो यस्तरवारिः खड्गस्तस्य कृत्यं कार्यं
 दुस्तरवारिकृत्यम्

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २४५

३३. ध्वस्तोर्ध्व-केश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-

प्रालम्बभृद्-भयद-वक्त्रविनिर्यदग्निः।

प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,

सोऽस्याऽभवत् प्रतिभवं भवदुःख-हेतुः॥

अन्वय— दैत्येन भवन्तं प्रति ध्वस्त-ऊर्ध्वकेश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्-भयद-यः-वक्त्र-विनिर्यदग्निः प्रेतव्रजो ईरितः स
अस्य प्रतिभवं दुःखहेतुः अभवत्

अनुवाद— बिखरे हुए केशों से युक्त विकृत आकृति वाले, नरमुण्डों की माला
धारण किए हुए, भयभीत करने वाले, मुंह से निकलती हुई आग
वाले प्रेत-समूह को दैत्य ने तुम्हारी ओर भेजा। वह प्रेत-समूह
उसके लिए प्रत्येक जन्म में संसार के दुःखों का कारण बन गया।

शब्दार्थ— ध्वस्तोर्ध्व....विनिर्यदग्निः—ध्वस्ताः ऊर्ध्वकेशा येन स
ध्वस्तोर्ध्वकेशः विकृता रौद्रत्वेन विरूपा आकृतिः—
आकारो यस्य स विकृताकृतिः, मर्त्यानां—नराणां यानि
मुण्डानि तेषां प्रालम्बो-लम्बनकं तं बिभर्तीति मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृत्। भयद-भयं ददातीति भीमत्वेन। भयद
वक्त्रविनिर्यदग्निः—वक्त्राद्—मुखात् विनिर्यन्-निर्गच्छन्
अग्निर्यस्य स वक्त्रविनिर्यदग्निः

प्रेतव्रजः—प्रेतसमूहः

अस्य—दैत्यस्य

प्रतिभवं—प्रतिजन्म

ईरितः—प्रेरितः

स—प्रेतवज्रः

भवदुःखहेतुः—संसारक्लेशहेतुः

२४६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

३४. धन्यास्त एव भुवनाधिप! ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवत् विधुतान्यकृत्याः।
भक्त्योल्लसत् पुलक-पक्षमल-देहदेशाः,
पादद्वयं तव विभो! भुवि जन्मभाजः॥

अन्वय— भुवनाधिप! विभो! भुवि ते एव जन्मभाजः धन्याः ये
विधुतान्यकृत्याः भक्त्या उल्लसत्पुलकपक्षमलदेहदेशाः
त्रिसन्ध्यं तव पादद्वयं विधिवद् आराधयन्ति।

अनुवाद— हे जगत् के स्वामिन्! विभो! संसार में वे ही प्राणी धन्य हैं जिनके
शरीर के रोयेदार अवयव भक्ति से उल्लसित और रोमांचित
हो जाते हैं और जो अन्य कार्यों को छोड़कर तीनों संध्याओं में
विधिपूर्वक तुम्हारे चरणयुगल की आराधना करते हैं।

शब्दार्थ— भुवनाधिप—भुवनानां-जगताम् अधिप भुवनाधिप
धन्याः—प्रशस्यां
विधुतान्यकृत्याः—त्यक्तान्यकार्याः
भुवि—पृथिव्यां
उल्लसत्पुलकपक्षमलदेहदेशाः—प्रोल्लसद्द्रोमाज्चेन पक्षमवच्
शरीरभागा येषां ते।
जन्मभाजः—देहिनः, जन्म भजन्तीति जन्मभाजः
त्रिसन्ध्यं—त्रिकालं, तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः त्रिसंध्यम्
विधिवद्—विधिपूर्वकम्
भक्त्या—भावेन
पादद्वयं—चरणयुगलं

परिशिष्ट : कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् २४७

३५. अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश!,
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे,
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति॥

अन्वय— मुनीश! मन्ये अस्मिन् अपारभववारिनिधौ मे श्रवणगोचरतां न
गतोऽसि। तव गोत्रपवित्रमन्त्रे आकर्णिते किं वा विपद्विषधरी
सविधं समेति॥

अनुवाद— हे मुनीश! मैं मानता हूँ कि इस अपार संसार-समुद्र में तुम मेरे
श्रवण के विषय नहीं बने, मैंने तुमको नहीं सुना। तुम्हारे नाम रूपी
पवित्र मंत्र को सुनने पर क्या विपत्ति रूपी नागिन समीप आ सकती
है? कभी नहीं आ सकती।

शब्दार्थ— अपारभववारिनिधौ—अतिविस्तीर्णसंसारसमुद्रे
मे—मम
श्रवणगोचरतां—कर्णविषयताम्
न गतोऽसि—न श्रुतोऽसीति भावः
गोत्रपवित्रमन्त्रे—नामपूतमन्त्रे
आकर्णिते—श्रुते सति
विपद्विषधरी—आपत्सर्पिणी
सविधं—समीपम्
समेति—समागच्छति

२४८ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

३६. जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव!
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्॥

अन्वय— देव! मन्ये ईहितदानदक्षं तव पादयुगं जन्मान्तरेऽपि मया
न महितम्। मुनीश! तेन इह जन्मनि अहं मथिताशयानां
पराभवानां निकेतनम् जातः।

अनुवाद— हे देव! मैं मानता हूँ कि मैंने अभीष्ट फल प्रदान करने में समर्थ
तुम्हारे चरण-युगल की जन्मान्तर में भी पूजा नहीं की। हे मुनीश!
इसलिए इस जन्म में मैं चित्त को व्यथित करने वाले उपद्रवों का
निकेतन बन गया हूँ।

शब्दार्थ— ईहितदानदक्षं—वाञ्छितवितरणप्रवीणम्
जन्मान्तरेऽपि—एकस्माज्जन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्मिन्
न महितं—न पूजितम्
मथिताशयानाम्—व्यथितचित्तानाम्
पराभवानां—अनर्थानाम्
निकेतनं—गृहम्

३७. नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत्प्रबन्ध-गतयः कथमन्यथैते॥

अन्वय— विभो! नूनं मोहतिमिरावृतलोचनेन मया पूर्वं सकृदपि त्वं न
प्रविलोकितः असि। अन्यथा मर्माविधः प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः
अनर्थाः एते हि मां कथं विधुरयन्ति।

अनुवाद— हे विभो! मेरी आंखें मोह के तिमिर से आवृत हो गईं इसलिए मैंने
पहले एक बार भी चित्त की एकाग्रता के साथ तुम्हारे दर्शन नहीं
किए। यदि तुम्हारे दर्शन कर लेता तो ये मर्मभेदी और परम्परा को
बढ़ाने वाले क्लेश मुझे पीड़ित नहीं करते।

शब्दार्थ— मोहतिमिरावृतलोचनेन—मोहान्धकाराच्छादितनेत्रेण
पूर्वं—प्रथमम्
सकृदपि—एकशोऽपि
न प्रविलोकितोऽसि—प्रकर्षेण-चित्तैकाग्ररूपेण न विलोकितोऽसि
न निरीक्षितोऽसि
अन्यथा—त्वद्दर्शने सति
मर्माविधाः—मर्मभेदिनः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः—प्रोद्यन्त्यः प्रभवन्त्यः प्रबन्धगतयः
सन्तानगतयो येभ्यस्ते, प्रादुर्भवत्परम्पराकाः

२५० कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श

३८. आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

अन्वय— जिन! त्वम् आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि न
भक्त्या चेतसि विधृतोऽसि। जनबान्धव! तेन अहं दुःखपात्रं
जातः अस्मि। यस्मात् भावशून्याः क्रियाः न प्रतिफलन्ति।

अनुवाद— हे जिन! मैंने तुम्हें सुना भी है, तुम्हारी पूजा भी की है, तुम्हें
देखा भी है। किन्तु भक्ति से मैंने तुम्हें हृदय में धारण नहीं किया।
हे जनबान्धव! इसलिए मैं दुःखों का पात्र बन गया हूँ। क्योंकि
भावशून्य (कोई भी) क्रिया फलवती नहीं होती।

शब्दार्थ— आकर्णितः—श्रुतः

महितः—पूजितः

निरीक्षितः—दृष्टः

चेतसि—हृदये

दुःखपात्रं—दुःखभाजनम्

भावशून्याः—चित्ताभिप्रायशून्याः भावरहिताः

न प्रतिफलन्ति—फलवत्यो न भवन्ति

३६. त्वं नाथ! दुःखिजनवत्सल! हे शरण्य!
कारुण्य-पुण्यवसते! वशिनां वरेण्य!
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि॥

अन्वय— नाथ! हे दुःखिजनवत्सल! हे शरण्य! कारुण्य-पुण्यवसते!
वशिनां वरेण्य! महेश! भक्त्या नते मयि दयां विधाय
दुःखांकुरोद्दलनं तत्परतां विधेहि।

अनुवाद— हे नाथ! दुःखीजनवत्सल! शरणार्ह! करुणा के निर्मल आलय!
जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ! हे महेश! भक्तिपूर्वक मैं तुमको प्रणाम करता
हूँ। तुम मेरे पर करुणा करके दुःख के अंकुर को जड़ सहित उखाड़ने
में तत्परता करो।

शब्दार्थ— शरण्य—शरणार्ह!
कारुण्यपुण्यवसते—कृपापवित्रगृह!
विधाय—कृत्वा
दुःखांकुरोद्दलनम्—दुःखांकुराणां उद्दलनं-मूलतो निष्कासनं
विधेहि—कुरुष्व

४०. निःसंख्य-सार-शरणं शरणं शरण्य-

मासाद्य सादितरिपु-प्रथितावदातम्।
त्वद्पाद-पंकजमपि प्रणिधानवन्ध्यः,
वध्योऽस्मि चेद् भुवन-पावन! हा! हतोस्मि॥

अन्वय— निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्यं सादितरिपुप्रथितावदातं
त्वत्पादपंकजम् आसाद्य चेत् प्रणिधानवन्ध्यः भुवनपावन!
हा! अहं वध्यः अस्मि हतः अस्मि।

अनुवाद— जो अनन्त बल के सदन हैं, रक्षा करने वाले हैं, शरण के योग्य
हैं, राग आदि शत्रुओं का नाश करने से जिनकी उज्ज्वलता प्रसिद्ध
हो गई है, ऐसे तुम्हारे चरणकमल को प्राप्त करके भी मेरा चित्त
समाधान से शून्य रह गया। हे भुवनपावन! हा! मैं वध्य हो गया,
मैं हत हो गया।

शब्दार्थ— निःसंख्यसारशरणं—अनन्तबलसदनम्

शरणं—रक्षकम्

शरण्यं—शरणाय योग्यं

आसाद्य—प्राप्य

सादितरिपु—प्रथितावदातम्—सादितः क्षयं नीतः रिपूणां—रागादीनां
प्रसिद्धोऽवदातो येन तत्

प्रणिधानवन्ध्यः—चेतः समाधानशून्यो धर्मोद्यमरहितो वा।

४१. देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिल-वस्तु-सार!
संसारतारक! विभो! भुवनाधिनाथ!
त्रायस्व देव! करुणाहृद! मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः॥

अन्वय— देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिल-वस्तु-सार! संसारतारक! विभो!
भुवनाधिनाथ! देव! करुणाहृद! भयदव्यसनाम्बुराशेः सीदन्तं
माम् अद्य त्रायस्व। पुनीहि।

अनुवाद— हे सुरेन्द्र के द्वारा स्तुत्य! संपूर्ण वस्तुओं के परमार्थ को जानने
वाले! संसार को तारने वाले प्रभो! भुवन के अधिनाथ! देव!
करुणा के हृद! भय देने वाले विपत्ति रूपी समुद्र से मैं आज पीड़ित
हो रहा हूं। तुम उससे मेरी रक्षा करो। मुझे पवित्र करो।

शब्दार्थ— देवेन्द्रवन्द्य!—सुरेन्द्रस्तुत्य!
विदिताखिलवस्तुसार—ज्ञातनिखिलवस्तुपरमार्थ
संसारतारक!—संसारात् तारक!
त्रायस्व—रक्ष
पुनीहि—पवित्रीकुरु
सीदन्तम्—विषीदन्तम्
भयदव्यसनाम्बुराशेः—भयोत्पादकविपत्तिसमुद्रात्

४२. यद्यस्ति नाथ! भवदंहिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्तत-संचितायाः।
तन्मे त्वदेक-शरणस्य शरण्य! भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि॥

अन्वय— हे नाथ! यदि भवदंहिसरोरुहाणां सन्ततसंचितायाः भक्तेः
फल किमपि अस्ति तत् हे शरण्य! अत्र भुवने भवान्तरेऽपि च
त्वदेकशरणस्य मे त्वम् एव स्वामी भूयाः।

अनुवाद— नाथ! तुम्हारे चरणकमलों की निरंतर संचित भक्ति का यदि कोई
फल है तो हे शरण्य! जन्म-जन्मान्तर में तुम्हीं मेरे स्वामी बनो।
मुझे एकमात्र तुम्हारी ही शरण है।

शब्दार्थ— भवदंहिसरोरुहाणां—त्वच्चरणकमलानाम्
सन्ततसंचितायाः—सन्ततं निरन्तरं, संचितायाः—एकीकृतायाः
त्वदेकशरणस्य—त्वमेव एकं—केवलं शरणं यस्य स तस्य।

४३. इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र!
सान्द्रोल्लसत्-पुलक-कंचुकितांगभागाः।
त्वद्बिम्ब-निर्मल-मुखाम्बुज-बद्धलक्ष्याः,
ये संस्तवं तव विभो! रचयन्ति भव्याः॥

४४. जन-नयन-कुमुदचन्द्र!
प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचयाः,
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते॥ युग्मम्॥

अन्वय— जिनेन्द्र! जननयनकुमुदचन्द्र! इत्थं समाहित-धियः
सान्द्रोल्लसत्-पुलककञ्चुकितांगभागाः त्वद्बिम्ब-निर्मल-
मुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः ये भव्याः विधिवद् तव संस्तवं रचयन्ति।
ते प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदः भुक्त्वा विगलितमलनिचयाः
अचिरात् मोक्षं प्रपद्यन्ते।

अनुवाद— हे जिनेन्द्र! जन-जन के नयनकमल को विकसित करने वाले
चन्द्र! इस प्रकार स्वस्थ बुद्धि वाले, सघन उल्लास के रोमांच
से कंचुकित शरीरावयव वाले और तुम्हारे चन्द्रमण्डल के समान
निर्मल मुखकमल पर लक्ष्यबद्ध होकर जो भव्य प्राणी विधिपूर्वक
तुम्हारा स्तवन करते हैं, वे दीप्त स्वर्ग सम्पदाओं का भोग कर
कर्म-समूह को नष्ट कर शीघ्र मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

शब्दार्थ— सान्द्रोल्लसत्....भागाः—सान्द्रा-निश्छिद्रा ये उल्लसन्तः
उच्छ्वसन्तः, पुलका—रोमाञ्चास्तैः
कञ्चुकिताः कञ्चुकै-रिव विशिष्टा,
अंगभागाः—शरीरप्रदेशाः येषां ते।

प्रभास्वराः—प्रकर्षेण दीप्यमानाः

अचिरात्—क्षणेन

२५६ कल्याण मंदिर : अंतस्तल का स्पर्श